परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ

श्रेय

भारतीय साहित्यकार संघ की मुख पत्रिका

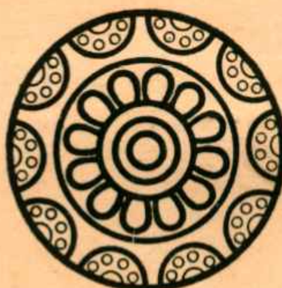
चैत्र २०२७ वि०—अप्रैल १९७० ई०



सम्पादकीय कार्यालय— सी-३/३१ए, राजौरी गार्डन,
नई दिल्ली-२७.

मूल्य प्रति अङ्क— १.५० रू०

वार्षिक ५.०० रू०



प्रकाशन संयोजन, राधामोहन विमल

भारतीय सा० संघ की ओर से राजपाल शास्त्री द्वारा राजधानी प्रिंटर्स, सी-२/७
राजौरी गार्डन में मुद्रित और [illegible] दिल्ली से प्रकाशित

प्रकाशकीय

ओ३म् विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि ।
परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

———

प्रणव की परम कृपा से यह अंक आपको देते हुए दायित्व-निर्वाह-तोष का जो अनुभव हो रहा है वह मेरे लिए सौभाग्य की बात है।

पत्रिका प्रकाशन का कठिन कार्य आप सबके सात्विक योगदान से सम्पन्न होता रहेगा, इसका मुझे विश्वास है। जिन सहृदयों ने इस कार्य में मुझे सहायता पहुंचाई है, उसके लिए उन्हें साधुवाद देना मैं अपना धर्म समझता हूं।

अप्रकाशित, मौलिक, शोधविषयक तथा चिन्तन प्रधान लेखों को इस पत्रिका में महत्व दिया जाएगा।

इस बार समयाभाव के कारण मुद्रण में त्रुटियां रह गई हैं। पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे। भविष्य में शुद्ध मुद्रण की ओर हम विशेष ध्यान देंगे।

मुझे विश्वास है कि "स्वस्ति पन्थामनुचरेम" का स्वर इसके माध्यम से हम संपूज्य कर सकेंगे।

राजपाल:—मुद्रक-प्रकाशक

अनुक्रम

आशीर्वचन

सौन्दर्यं साहितीनां जगति भरतभूर्निर्मितानां नितान्तं ।
भूयात् सञ्चारयन्ती प्रयतमतिरियं पत्रिका विश्ववन्द्या ।।
पन्थानं दर्शयन्ती सरसमधुरिमापूरितं श्रेयसः स्वं ।
श्रेयोनाम्ना प्रसिद्धा गमयतु सुयशःसाहितीकारसङ्घम् ।।

भारतवर्ष में निर्माण हुए साहित्य समूह के सौन्दर्य को संसार में प्रसारित करती हुई यह शुद्ध विचार-प्रधान पत्रिका संसार में वन्दनीय बन जाए। सरस माधुर्य से भरे हुए कल्याण के अपने विशेष मार्ग का प्रदर्शन करती हुई यह 'श्रेय' नाम से प्रसिद्ध पत्रिका साहित्यकार संघ को शुभ कीर्ति प्रदान करे।

आचार्य अमृतवाग्भव

श्री त्रिपुरासुन्दरीस्तोत्रम्

[इस स्तोत्र का प्रणयन विक्रम संवत् १९८६ कार्तिक कृष्ण-पक्ष में वराहमूल काश्मीर में हुआ था और इसका प्रकाशन अभी तक कहीं नहीं हुआ है।]

भ्रामं भ्रामं विविधजननीगर्भगेहान्तरेषु
श्रान्तः श्रान्तस्तवपदयुगं प्राप्य विश्रान्तिहेतोः।
शान्तस्वान्तश्चरणपतितः प्रार्थयेत्वां नितान्तं
मातर्माऽतः परमनुभवंजन्मनो देहि मह्यम् ॥१॥

मन्तूनन्तं गमय विहितान्जानताऽजानता वा
तन्तूंस्तन्तून्विदलय मदुल्लासितां ह्योऽम्बरस्य।
किन्तून्किन्तूदित बहूदये स्वान्ततोन्यस्य बाह्ये
रन्तुंनन्तुं निजचरणयोर्धूलिमम्बप्रदेहि ॥२॥

आचार्य अमृतवाग्भव



ग्रहमूल

ाग्भव

वि०

संपादकीय

चिति एवम् संकल्प★

भारतीय साहित्यकार संघ की स्थापना विक्रमी सम्वत् २०१६ में हुई थी और तभी से सम्बद्ध सहृदयों की आकांक्षा थी कि संस्था की एक मुख-पत्रिका प्रकाशित की जाय। 'श्रेय' का यह प्रथम अङ्क उक्त आकांक्षा की हीं परिणति है। चिन्तन-संस्कारों और बौद्धिक सीमाओं के अनुसार लोगों ने भारतीय साहित्यकार संघ का अलग-अलग अर्थ लगाया होगा परन्तु हमारी दृष्टि इसकी स्थापना-काल से ही इसके नामकरण और अर्थ में भिन्न रही है। भारतीय साहित्यकार संघ न तो कतिपय लेखकों की अहमन्यता की परितुष्टि के लिए है और न इससे दल विशेष की आकांक्षा की भूमिका ही प्रस्तुत हो सकेगी।

गत सहस्रों वर्षों से भारत पर होने वाले सांस्कृतिक आक्रमण तथा उनके परिणाम स्वरूप वैचारिक अपरूपता का अध्ययन एवम् इनके घिराव में भारत की प्राण-शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए साहित्यिक-प्रयास-कक्ष के रूप में भारतीय साहित्यकार संघ का अभीष्ट ध्येय है। अतः साहित्य की रचनात्मकता की ओर हम अग्रसर होंगे। हम जानते हैं कि यदि भारत की प्राण-शक्ति शिथिल हो जाएगी तो बाह्य साधनों से इसकी रक्षा असम्भव होगी। इसलिए चिन्तन के क्षेत्र में विशेष कार्य की आवश्यकता है। साहित्य में अहं और इदं की सार्थक व्यापकता होते हुए भी हेत्वर्थ और हितार्थ की उपेक्षा उचित नहीं है। समन्वय के नाम से किए गए अस्तित्व समर्पण को हितार्थ समझना हमारे लिए कठिन है।

"श्रेय" पत्रिका के संदर्भ में यह उल्लेख्य है कि स्वदेश और स्वराष्ट्र की परम्परागत ज्ञान-राशि की अभ्यर्थना हेतु तथा विशिष्ट अन्वेषण और अनुसंधान द्वारा राष्ट्र की महती आकांक्षा के समर्थन के लिए 'श्रेय-रूप' में भारतीय साहित्यकार संघ अपने नए चरण प्रस्तुत कर रहा है।

हम आधुनिकता तथा नवीनता के विरोधी नहीं है। हमारा अभिमत है कि नवीनता गति का क्रम है। यह महान उपलब्धि नहीं, मात्र सहज रूप है। हमारे

धर्म का आधार अति वैज्ञानिक होने से ज्ञात होता है कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान के दोनों ही क्षेत्रों में अन्तर्भाव-ऐक्य है। परन्तु नवीनीकरण के रूप में यदि हमें विष दिया जाए तो उसको अस्वीकार करना शरीर-प्राण का धर्म है। इसी कारण से हमारी दृष्टि जीवन-श्रेय की ओर है।

वर्तमान समय में विचार-मंथन की गति को तीव्र करके अमृत का सौभाग्य प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा और इसी दिशा में 'श्रेय' एक प्रयास है। कवि माघ की अमृत वाणी "श्रेयम्केन हि तृप्यते" हमें इसी ओर प्रेरित कर रही है।





'श्रेय' का शिक्षा-विशेषांक

विद्वानों से निवेदन है कि वे भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में शोधपूर्ण विचार भेजें

स्व० आचार्य रघुवीर और बृहत्तर भारत



डॉ० लोकेशचन्द्र

अध्यक्ष भारतीय साहित्यकार संघ

[डा० लोकेश चन्द्र विश्वविख्यात प्राच्यविद्याविद् स्वनामधन्य स्व० डा० रघुवीर के सुयोग्य पुत्र हैं। डा० रघुवीर की मृत्यु के पूर्व आप सरस्वती विहार के सचिव पद पर कार्य कर रहे थे। और उनके दिवंगत होने पर बड़ी कुशलता से आप सस्था के कार्य का निदेशक के रूप में संचालन कर रहे हैं।]

एशिया के हृदयांचलों में भारत-भारती विलसती है, उसके गिरि-गिरि को मन्दिरों से पावन करती है, उसकी नदियों को गंगा मइया की प्रतिरूपिणी बनाती है, संस्कृत के पूजा-घोष देशदेशान्तर के वातावरण को पुनीत करते हैं, भारत के देव और देवियां साधक कलाकारों की तूलिका द्वारा रूपमाधुरी से आप्लावित हो उठते हैं-यह दृश्य शिबिरदेश (साइवेरिया) के शीततम प्रदेशों से लेकर इन्डोनीसिया की शस्य-श्यामला उपत्यकाओं के विराट् भूभाग की आत्मा है। भारत की इस विशाल धर्म विजय का साक्षात्कार और उसका संपोषण पिताजी के जीवन की अभिन्न साधना रही। जहां भारत-भारती ने चरण रखे वहीं पिताजी का पथ था। सम्पूर्ण बृहद्भारतीय शताब्दियां उनमें प्राणवन्त हो उठतीं, काल के साहचर्य में शतियों की जीवनलीला उनके लिए जाग उठतीं, प्रत्येक घटना-पुण्य घड़ी बन उठती, भारतीय आचार्यों की धर्मयात्राएं घोड़ों की टापों में और डगमगाती नावों के ज्वारभाटे में दृश्य बन जातीं, एशिया के कोने-कोने में भारतीय मनीषा के संस्कृत स्वर पिताजी को झंकृत कर देते और वे ऐतिहासिक गुहाओं की मौन योगसाधना में एकान्त हो उठते। जयमन्त्रवर भारत पिता जी के लिए अध्ययन ही नहीं था, वह जीती-जागती अन्तस्तम की अनुभूति थी।

उनका भारतीय हृदय उल्लसित हो उठता जब रोमणी जातियों को वह देखते। ये भारतीय जातियां है जो १००० वर्ष पूर्व भारत से बाहर निकलीं और चलती फिरती ईरान, तुर्की, मिस्र, योरोप, अमरीका, सोवियत संघ में फैल गईं। रोमणी 'डोम' शब्द का रूपान्तर है। इन्हें "कालो" (कृष्णवर्ण) भी कहते हैं। ये यायावर हैं और कभी एक स्थान पर लम्बे समय तक नहीं ठहरते। ग्रामों और नगरों के बाहर सड़कों पर अपनी घोड़ा गाड़ियों में सजधज के साथ जहां कहीं भी रोमणी परिव र डेरा जमाते हैं वहीं खेल कूद, आमोद-प्रमोद का नया संसार आविष्कृत हो जाता है। इनको अपनी भाषा का बड़ा अभिमान है। इसको छिपा-छिपा कर रखते हैं। इनके मूलभूत शब्द, वाक्य रचना और व्याकरण भारतीय हैं। 'कालो चिबू' (चिबू-जिह्वा-भाषा अर्थात रोमणी भाषा में अद्भुत भारतीय शब्द सुरक्षित हैं। एक शब्द हिम को ही लीजिए—दिखस् बारौ इव्। त्रशीग्रस्। था अरे ग्यस् पाले। था फन्दीअस् ओ उदान् (देखी बड़ी हिम। त्रास हुआ। और अन्दर गया परे। और बन्द किया वह द्वार)। इवेस्को दिवेस् (हिम का दिवस) इवेस्कीरात् (हिम की रात) जब कभी पिताजी योरोप जाते इन भारत-पुत्रों के तम्बुओं और घोड़ा-गाड़ियों में शब्दसग्रह करते, उनके गीत भरते और उनकी रीतियां समझते। चैकोस्लोवाकिया में एक रोमणी माता से मिले। उसने कहा—"मेरे पुत्र का रंग सांवला है। पाठशाला में बच्चे उसे काला कहकर चिढ़ाते हैं। मैं उसे दूध में नहला-नहला कर गोरा बनाना चाहती हूं।" दूध में नहला कर गोरा करने की कल्पना पिताजी ने अपने बाल्यकाल में ग्राम में सुनी थी। रोमणी माता के मुख से यह सुनकर और अनेक ऐसी सूक्ष्म समानताएं देखकर उनका मन स्पन्दित हो उठता। घण्टों पर्यन्त चलने वाली ध्वनि-पट्टियां पिताजी ने सरस्वती विहार में एकत्र कीं जिसमें आप रोमणी स्वर-लहरी सुन सकते हैं। रोमणियों के सैकड़ों कथानक वर्णन कर सकता हूँ जो पिताजी ने सुनाए थे, पर आज के विहंगावलोकन में आपको दूर, बहुत दूर सोवियत संघ के उत्तरतम शिबिरदेश में (जिसे अंग्रेजी में विकृत करके साईबेरिया कहते हैं) लिए चलता हूँ। इस हिममय-प्रदेश के अन्तरंग में एक छोटी सी नदिया इठलाती चली जाती है। यह है आगिस्की नदी। इसके समीप एक विशाल मन्दिर-विश्वविद्यालय बना जो आगिस्की दात्सान् के नाम से विख्यात हुआ। इसमें दर्शन शास्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद और ज्योतिष के चार महाविद्यालय थे। जो अंग्रेजी विश्व में ओक्सफोर्ड को सम्मान प्राप्त है, वही सम्मान इस आगिस्की को था। यह शिबिरदेश का नालन्दा विश्वविद्यालय था। यहां का पाठ्यक्रम प्राचीन नालन्दा की परिपाटी का था। शिबिरदेश के मन्दिर-विश्वविद्यालयों में अपने मुद्रणालय थे जिनमें लकड़ी के फलकों से विभिन्न ग्रन्थ छापे जाते

थे। यह समस्त साहित्य संस्कृत से बुर्यात् भाषा में अनूदित था, अथवा उसकी साधना से अनुप्राणित था; उसके भाव जगत् में लीन था। पिताजी ने पहली बार इन दुर्गम स्थलों से पाण्डुलिपियाँ एकत्र कीं जो सरस्वती-बिहार को सुशोभित करती हैं। इनमें पाणिनि का व्याकरण, कालिदास का मेघदूत, संस्कृत मन्त्रों के समुच्चय, आयुर्वेद का अमृत-अष्टांगहृदय आदि सहस्रों ग्रन्थ हैं जो संस्कृत से बुर्यात भाषा में अनुवाद किए गए थे। ये भारत की जीविष्णु संस्कृति के उत्तरतम प्रदेशों के सख्य के प्रतीक हैं। साम्यवाद के पचास वर्षों के पश्चात् भी शिबिरवासियों के हृदयों में आस्था है। शिबिरदेश में शतियों के अनन्तर 'गांगिन ओस' अर्थात् गंगाजल पहुंचाने में भी पिता जी अग्रणी थे। इसी पितृपरम्परा की अनुवृत्ति में, पिछले दिनों मैंने फिर से पूर्वी शिबिरदेश की राजधानी उलानुदे को गंगाजल भेजा है जो वहां अनेक परिवारों में वितरित होगा। शिबिरदेश की विज्ञान-परिषद् में आजकल प्राचीन आयुर्वेद का अध्ययन हो रहा है—इस पर 'लोक-भेषज' (folk medicine) के नाम से अन्वेषण होता है। शिबिर पाण्डुलिपियों में आयुर्वेद का जो ज्ञानभंडार सुरक्षित है उसकी सम्पन्नता अनुमान से परे है। सचित्र निघण्टु भी विद्यमान हैं जिनमें जड़ीबूटियों, शारीर रचना और शल्योपकरण (surgical instruments) चित्रित हैं। शिबिर में भारतीय आयुर्वेद का प्रचलन लगभग १९४० तक रहा और यहां के वैद्य रूस के प्रमुख नगर लेनिन्नगरी और मास्को में भी चिकित्सा किया करते थे। एक सुविख्यात वैद्य श्री आयेफ् थे। इनका नाम संस्कृत 'पद्म' (बाद्म) का भ्रष्ट रूप है जिसके अंत में रूसी प्रत्यय येफ् लगा हुआ है। ये लेनिन्नगरी में अपनी सफल चिकित्सा कि लिये लोकप्रिय थे। इनके रोगियों में अग्रगण्य साम्यवादी नेता बुखारिन और रूक्रोफ्, लेखक आलेक्सेइ टॉल्स्टॉय सम्मिलित थे। कई बार स्तालिन के उपचार के लिए भी गए थे। लोक-स्वास्थ्य-अध्यक्ष (Peoples Commissar of Health) कामिस्की को इनके ज्ञान के लिए विशेष आदर था और इन्होंने बाद्मायेफ के लिए लेनिन्नगरी के सैनिक चिकित्सा बिहार (Military Medical Academy) में विशेष भाग बनाया था। पीछे से स्तालिन के महा निरसन (great purge) में यह विभाग भी समाप्त कर दिया गया।

शिबिर के थर्राने वाले और जमाने वाले प्रचंड महाशीत में मंदिरों के अन्दर संस्कृत के धारणी मन्त्रों का अनुच्चरित गुंजन और बाहर छतों से लटकती हुई एवं शीतझंझा से झंकृत सैकड़ों नन्हीं नन्हीं घंटियां, नवरत्नों से लिखे ग्रन्थ, तुषार से बचाने के लिये लकड़ी के कमरे में शिशु की नाईं पाला पोसा बोधिवृक्ष, श्रीवत्स

अंकित वस्त्र से ढका मेज़, अगरु और चन्दन की लकड़ी से बनी महाघण्टी जो आज बजाई नहीं जाती, अनभिपूजित मूर्तियां, आदि सब मौन में विलीन आ-रहे युग की नई चेतना की प्रतीक्षा में है। मन्दिर के बाहर नन्हें से पीछे नेजाबुत्का के फूल हैं। नेजाबुत्का का अर्थ है 'मुझे भूल न जाना' (forget-me not)। ये नन्हें फूल विस्मृति के प्रति चेतावनी दे रहे है। शिबिरदेश के मन्दिरों को नवयुग की बाट है जब दीपक श्रद्धामय हाथों से आलोकित हो उठेंगे।

अपने जीवन के अन्तिम दशक में पिताजी का अनुसंधान-क्षेत्र मोंगोल भाषा, साहित्य, संस्कृति और धर्म रहा। मोंगोल जाति का वही प्रेय और श्रेय है जो भारत-भारती का है। मोंगोल इतिहासों में उल्लेख है छठी शताब्दी के अन्तिम दशक में शाक्यवंश, नरेन्द्रयशस् और अन्य भारतीय आचार्य जनहिताय उनके देश में आए थे। तब से भारतीय आचार्यों का आवागमन सतत चलता रहा और धर्म की ज्योति इस उत्तरावर्त में फैलती गई। इसके परिणामस्वरूप मोंगोल भाषा में छः सहस्र (६०००) संस्कृत ग्रन्थों का भाषान्तर हुआ। सन् १६४० में ७५० विहार थे, जिनमें नालन्दा की परम्पराएं सुरक्षित थीं, अनेकों संस्कृत ताड़पत्र थे, बतीस लाख (३२,००,०००) हस्तलिपियां और दस लाख मूर्तियां थीं, मन्दिरों-द्वारों पर गणेशजी की प्रतिमाएं थीं और लाखों प्रभापट (scyroll paintings) थे। सोवियत सघ के प्रख्यात संस्कृतज्ञ श्चर्बात्स्की कहा करते थे कि मोंगोल देश सातवीं-आठवीं शताब्दी का भारत है। जब श्चर्बात्सकी इस प्रदेश में गए तब मोंगोल विद्वानों ने संस्कृत परिपाटी से तर्कशास्त्र-सम्मत शास्त्रार्थ में इन्हें परास्त कर दिया। भारतीय आचार्यों का अन्तिम पदार्पण प्रथम जिब्चुन्दाम्पा के समय (१६२७-१६८६) में हुआ। दो आचार्य उनके शिविर (तम्बू) में रहे और वे अपने साथ अनेक भारतीय कथाएं ले गए। इनमें बिगर्मिजिद् (विक्रमादित्य), अर्जि, बुर्जि (राजा भोज) और खिसन खां (कृष्ण) के कथानक थे। सिंहासन-बतीसी और बेताल पचीसी भी ले गए थे। ये कथाएं मोंगोल देश के दूरतम बीहड़ ग्रामों में आज तक तम्बू-तम्बू में आग को तापते हुए परिवारों का विनोद हैं। एक आचार्य का दण्ड अभी गांडड् बिहार में सुरक्षित है और दोनों आचार्यों के मुखोटे भी छोइजिन्-लाम् विहार में पड़े हैं। तीन शताब्दियों के उपरान्त पिताजी मोंगोल देश में जाने वाले पहिले आचार्य थे। मोंगोल पिताजी को बीसवीं शताब्दी में उनके देश में पदार्पण करने वाला प्रथम आचार्य मानते हैं। मोंगोल मानस में 'आज़ार' अर्थात् 'आचार्य' सबसे अधिक श्रद्धास्पद शब्द है, यह केवल पूजाई मनीषी के लिए है।

प्रधानमन्त्री से लेकर विद्वान पत्रकार और जनता जनार्दन का अपार प्रेम मिला। जिस-जिस तम्बू में गए वहीं युवती-माताएं अपने बच्चों को पिताजी की गोद में बिठा देती--आशीर्वाद के लिए। इस यात्रा मे पिताजी तीन लाख पृष्ठ के अणुचित्र(microfilms) लाए, कई हस्तलिपियां और प्रभापट लाए। भारत में पहली बार मोंगोल देश का भारत-अनुप्राणित साहित्य और कला निधियाँ आयीं। १९५९ में अन्तर्राष्ट्रिय मोंगोलविज्ञ सम्मेलन में भारत के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में वह भाग लेने गए। सम्मेलन के समस्त प्रतिनिधि बस में बैठ जब मन्दिर देखने गए तब सबके सामने अद्भुत स्थिति उपस्थित हुई। एकत्र मोंगोल जनता ने पिता जी के सामने आशिषः के लिए अपने सिर झुकाए। एक दूसरे में होड़ हुई कि कौन पहले आशीर्वाद पाता है। यह देख कर योरोपीय विद्वानों को अत्यधिक आश्चर्य हुआ कि साम्यवाद के ३५ वर्षों के पश्चात् भी इतनी श्रद्धा है। डा० यूरी रोरिख ने कहा—"आपकी संस्कृति की यह महिमा है। इसे मत खोइये। यही आपकी राष्ट्रीय निधि है।' साथ पिता जी के हाथ उन्होंने पं० नेहरू के नाम पत्र दिया और इसमें यह विचार रखे। १९६७ में मुझे मोंगोल जाने का सौभाग्य मिला। सर्वत्र ही लोग पिता जी को स्मरण कर द्रवितहृदय थे। पिता जी की संस्कृति-साधना को पूर्ण करने के लिए मुझे अपनी मंगलकामना दीं और उसके साथ दीर्घायु के देवता भगवान् आयुषी की प्रतिमा, उनकी संस्कृत-पुस्तक और चैत्य दिया। मोंगोल में पूर्ण मंगल के लिए मंगलत्री देते हैं जो काय, वाक् और चित्त धरातलों का प्रतिनिधान करती है। प्रतिमा कायिक धरातल का प्रतिरूप है, स्तोत्र अथवा अन्य पुस्तक वाचिक का, और चैत्य चित्त अथवा मनस् का प्रतिरूप है। यह शास्त्रसम्मत मांगलिक विधान आज भी मोंगोल देश में प्रचलित है। मोंगोल के राष्ट्रपति का नाम शम्भु है, उनके ध्वज का अभिधान सोयम्बो अर्थात् स्वयम्भू है, इसमें दारिगंगा अर्थात् तारा-गंगा बहती हैं, उपप्रधानमन्त्री की पत्नी का नाम 'इन्द्री' है और इन्द्री की माताजी का नाम 'रत्ना' है। साम्यवादी क्रान्ति का प्रारम्भ सुखेबातर् ने शंखध्वनि से किया था—यह शंख क्रान्ति संग्रहालय में सुरक्षित है। सुखेबातर् का आधुनिक मोंगोल इतिहास में वही स्थान है जो लेनिन् का सोवियत इतिहास में है। आप दूर गावों में चले जाइए और आपको भेड़ चलाते व्यक्ति मिलेगें, जो सारस्वत, कलाप और पाणिनि के संस्कृत व्याकरण जानते हैं।

पिताजी ने चीन में व्याप्त भारत-भारती के दर्शन भी किए। वहां से भारत-

अनुप्राणित साहित्य, कला, दर्शन, कथा-कहानियों की अनन्त सामग्री एकत्र की। यम, यमान्तक, महाकाल के कलात्मक रौद्ररूप, भारतीय और चीनी आचार्यों एवं अर्हतों के ओजस्वी आलेख्य, चीन के कोने-कोने से एकत्रित, पत्थरों पर खुदे हुए प्राचीन संस्कृत शिलालेखों के बृहदाकार छापों आदि के दर्शन से कोई भी भारतीय आत्मगौरव की अनुभूति कर सकता है। अपने अभियान की दैनिकी में पिताजी ने लिखा है-"मैंने पहली शताब्दी में ऐतिह्य-यात्रा प्रारम्भ की और काल के साहचर्य में १६ शताब्दियों की जीवन लीला का साक्षात्कार किया।" चीन में सर्वप्रथम पदार्पण करने वाले भारतीय आचार्य काश्यप मातंग और धर्मरक्ष श्वेत घोड़ों पर चढ़कर तत्कालीन राजधानी लोयाङ् में गए थे। यहां इन दो श्वेत घोड़ों की स्मृति रूप में अभी तक दो श्वेत पत्थर के घोड़े बने हैं और इनके नाम पर 'पोमास्त' अर्थात् 'वेताश्व विहार' हैं (पो श्वेत, मा—अश्व, स्स—विहार)। पिताजी इन पर चढ़े और तन्मय हो गए। लोगों ने उतरने और चलने को कहा, क्योंकि किसी आयोजन में सम्मिलित होना था किन्तु वे नहीं उतरे। उनकी आत्मा एक "गौरवपूर्ण सांस्कृतिक प्रसंग के साक्षात्कार में समाधिस्थ हो गई थी।" अजन्ता की भांति चीन में तुन्ह्याङ् की ४७६ गुहा हैं यहां तीसरी से १२वीं शताब्दी तक के भित्तिचित्र है। एक गुहा में एक सहस्त्र वर्ष पुराना ३०,००० वलिताओं (manuscript rolls) का अद्वितीय संग्रह मिला है। इसमें संस्कृत, चीनी, तिब्बती, मोंगोल और शीश्या भाषाओं के लेख है। भारत-चीन के १६०० वर्ष यहां मूर्त्तिमन्त हैं। यहां से पिताजी सहस्रशः अणुचित्र (microfilms) लाए हैं जो भारतीय संस्कृति की लुप्त प्रेक्षाओं की संदेशभरी निधि हैं। शाङ्हाई में पिताजी की भेंट भिक्षु वेइ-फङ् से हुई। इन्होंने बतलाया कि अभी तक चीन में संस्कृत हस्तलिपियां मिल सकती हैं, किन्तु घोर परिश्रम करने से। भिक्षु वेइ-फ़ङ् के मन्दिर का नाम चिन्-आन् स्स है। यह १६०० वर्ष पुराना है। इसका वर्णन पिता जी के शब्दों में-"आज प्रतिपदा है सो सूत्रपाठ चल रहा है। महाकाल की मूर्तियां हाथी की कृत्ति (खाल) को हाथों से ऊपर उठाए हुए हैं। सूंड लटक रही है। यह कृत्तिवासस् का अद्वितीय निरूपण है। चतुर्मुख ब्रह्मा हंसों पर आरूढ़ हैं। इस मूर्ति की विशेषता यह है कि चतुर्थ मुख सिर के ऊपर है। त्रिशूलधारी शिव नन्दी पर आरूढ़ हैं।" पेकिङ् के हृदय में महाकाल का प्राचीन मन्दिर है और इसका मार्ग 'महाकाल म्याओ' कहलाता है। भारत की आध्यात्मिक, बौद्धिक, कलात्मक ज्वाला चीन में दो हजार वर्ष से प्रदीप्त रही है। उसका यहां केवल उल्लेखमात्र ही किया है।

चीन के तट से कुछ दूर कोरिया है जहां कुछ वर्ष पूर्व तक ब्रजगिरि के बिहारों में कोरिया के भिक्षु कोरियाइ-मिश्रित संस्कृत बोलते थे। सन् ३७४ में पहली बार भारतीय आचार्यों ने कोरिया में पदार्पण किया था और अगले वर्ष ही इबुल्ला-न्सा और सुड्मोन्सा मन्दिरों की स्थापना हुई। सन् ३८४ में भारतीय आचार्य मल्लानन्द पाइक्जे की राजधानी में पहुंचे थे। इसी प्रकार कोरिया के कई तीर्थयात्री भारत-दर्शन के लिए आए। इनमें से सातवीं शताब्दी के कोरियाइ यात्री हेचो का भारत वृत्तान्त हमारे इतिहास के लिए विशेष महत्व का है। पिता जी की स्मृति में अगले वर्ष इसका भाषान्तर छाप रहा हूँ। कोरिया की संस्कृति का स्वर्णिम काल सिल्ला युग (६५६-६५५) है। इस काल में अजन्ता आदि की भारतीय शैली में अवलोकितेश्वर, विमलकीर्ति आदि का भव्य चित्रण हुआ। बुत्चेडक् (सन् ६१३-६६६) इस युग के विख्यात संस्कृत विद्वान थे और उनकी विज्ञप्तिमात्रता दर्शन पर कई कृतियाँ आज तक सुरक्षित हैं। ध्यान-योग का प्रवेश भी सिल्ला काल के उतरार्ध में हुआ। ध्यान-योग कायिक और मानसिक शान्ति-प्रोत कर्मण्यता का प्रवंतक बना। इसका निरूपण दो वाक्यों में किया गया–"शमथ से कर्मठता" (active in quietness) और "कर्मठता में शमथ" (quiet in activeness)। यह "योग: कर्मसु कौशलम्" का रूपान्तर है। सिल्ला-वंशीय सम्राटों ने ध्यान-योग से राष्ट्र में निर्भीकता, शौर्य और धनु:कौशल को बढ़ाया। सारा कोरियाई साहित्य सस्कृतकी सरणियों में चला। स्थापत्य-कला का पूर्ण विकास और वैभव मन्दिरों के निर्माण में हुआ। दुर्ग, प्रासाद और अन्य लौकिक भवनों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा। पत्थर-निर्मित दीपस्तम्भ, चैत्य, विशाल मूर्तियां, चित्रों से सुशोभित भित्तियां और लटकते हुए प्रभापटों (scroll paintings) की आभा में कला उत्कर्ष को प्राप्त हुई। लोकगीतों में तथागत की प्रज्ञा और करुणा संस्कृत की स्वरमाधुरी में लहलहा उठी। बौद्ध गीतों की मौलिक एवं गहरी भव्यता और अपरिमित भिन्नता कोरिया की संगीत-संस्कृति की नींव बनी। मन्दिर-नृत्यों से कोरिया में अभिनय की नई दिशा आरम्भ हुई। सुकुगोराम् गुहाओं में गुप्तकालीन कला का लालित्य निखर उठा। 'कमल' स्तम्भाधारों, मंचों, आसनों में और अनेक प्रकार से सुव्याप्त अलंकरण बन गया। राजसिंह की विलक्षण प्रतिमाएं धर्मघोषको घोषित करतीं—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:"। होजू (वीणा), बांसुरी, मोक्जाक् (घण्टा), मन्दिर-घण्टियां, ग्युड्सोइ (झांझर) आदि भारतीय बाजे कोरिया वाद्यवृन्द के अंग बन गए। कोयूकाल (सन् ६३६-१३६१) में राजकाज 'दशशील' के आधार पर चला और ताइजो सम्राट ने अपनी नीति घोषित की कि "हम मन्दिर बनाएंगे जिससे तपोनिष्ठ भिक्षुओं का तप बढ़े।

इस काल में धर्म का वैभव बढ़ा और युन्देउङ् (दीपंकर-वस्तु) और पाल्कवान् अर्थात् अष्टांगसमन्वागत उपवास समूची जनता के जीवन में व्याप्त हुए । कोर्यू काल में संस्कृत से अनूदित साहित्य का विराट् समुच्चय 'महाधर्मकोष' के नाम से छपा । सन् १०१० से लेकर १०८६ तक इसके १०,७०० भाग प्रकाशित हुए । यह साहित्य का "अद्भुतं रूपमुग्रं" था । संस्कृत वर्णमाला की ध्वनि-पद्धति पर कोरिया की राष्ट्रीय लिपि हांगेउल् का आविष्कार हुआ जो आज उनकी एकमात्र लिपि है । कोरिया के हस्तशिल्पों में नीलभृत्स्ना (blue porcelain) सर्वप्रथम है । इसकी हृदयंगम पारदर्शी नीलाभा में ध्यानयोग का गाम्भीर्य निहित है।

कोरिया के आगे सूर्योदय की भूमि जापान है। इसकी संस्कृति में झांकेंगे तो भारत ही उसकी भूमिका होगी । दैनंदिन जीवन में भी भारत की मधुर स्मृतियां बिखरी पड़ी हैं । घर घर में शिचिफुकुजिन अर्थात् सात मांगलिक देवताओं के चित्र अथवा मूर्तियां हैं । इनमें दण्ड धारण किये हुए दाईकोकु अर्थात् महाकाल हैं, बिशामोन् (वैश्रवण) कुबेर हैं, वीणा लिए हुए बेन्तेन् अर्थात् सरस्वती देवी हैं, और कांगितेन्-शोतेन् अर्थात् गणेश हैं । ज्वालाओं से परिवृत दुष्टदलन के लिए दाएं में खड्ग बाएं में पाश लिए 'फ़ुदों' अर्थात् 'अचल' हैं । बाल-देवी किशिमो-जिन् अथवा हारीति हैं । महालक्ष्मी जी भी जापान में किचिजोतेन् (महाश्री) के नाम से पूजी जाती हैं । तोक्यो में महाकाल का मिमेगुरी मन्दिर, कुबेर का तामोन्जि मन्दिर और सरस्वती का चौमेइजि मन्दिर है । नव वर्ष के प्रथम दिन जापानी इनमें सुख-समृद्धि के लिए उपासना करते हैं । मुण्डन-संस्कार केवल भिक्षुओं का होता है । दान्जिकि इक्कीस दिन का उपवास है जिसमें केवल जल ही पीते हैं और इस अवधि में मन्दिर-वास करते हैं । मार्च और सितम्बर में हाकामारि श्राद्ध करते हैं और पारिवारिक समाधियों पर जाकर जलदान करके पितरों का तर्पण करते हैं । दोनों दिन पूर्ण शाकाहार किया जाता है जिसमें अंडे और दूध भी वर्जित रहते हैं । जापान में सन् ७५७ में स्थापित शोसोइन् मन्दिर में आठवीं शताब्दी की बीवा (वीणा) सुरक्षित है यह संसार की प्राचीनतम वीणा है । आजतक राष्ट्रीय जापानी संगीत में बीणा-वादन प्रमुख है । प्रज्ञाचक्षु जापान में वीणा वादक होते हैं । तोक्यो के समीप अनेक गोह्याकु राकान मन्दिर हैं जिनमें ५०० आचार्यों की ५०० मूर्तियां हैं । तोक्यो में इम्मा (यम) के देवालय हैं जहां द्वितीय महायुद्ध से पूर्व शिशिक्षु १६ जनवरी और १६ जुलाई को पूजार्थं जाया करते थे । जापान के वर्तमान प्रधान-मन्त्री ने अपने निर्वाचन में विजयी होने पर, मनौती के अनुसार सारी जनता

के सामने दारुमासान् की दूसरी आँख का आलेखन किया। आप पूछेंगे कि इसका क्या अर्थ है? भारत की भाँति जापान में भी विशिष्ट कार्य करने से पहिले मनौती करते हैं। दारुमासान् को अपने कक्ष में रख लेते हैं। इसकी आखें ढकी रहती हैं अथवा होती ही नहीं। जब इनके सम्मुख की मनोकामना पूरी हो जाती है, तब ढकी आँखें खोल देते हैं। परन्तु सुसंस्कृत व्यक्ति मनौती करते समय एक आँख का आलेखन करते हैं और दूसरी का कामना के पूर्ण होने पर। दारुमासान् भारतीय आचार्य बोधिधर्म हैं जो भारत से गए थे और अपनी योग-सिद्धि के विलक्षण प्रताप के कारण आज भी जापानी मानस में जीवित हैं। जापान की वर्णमाला हीरागाना कहलाती है। इसके आविष्कर्ता आचार्य कोबो दाइशी थे जिनका काल सन् ७७४-८३५ है। कश्मीर-वासी आचार्य प्रज्ञ से इन्होंने नागरी-लिपि सीखी। यह लिपि सिद्धम् के नाम से जापान में मन्त्र लिखने के लिए आज तक प्रचलित है। आचार्य कोबो दाइशी ने कोयासान् के शान्त पर्वतांचल में अपना आश्रम बनाया और सिद्धम् के आधार पर जापानी वर्णमाला की रचना की। इसको 'गोजुओन्' अर्थात् 'ध्वनिपंचाशिका' कहते हैं। इसका आरम्भ इस प्रकार है - आ इ उ ए ओ। का कि कु के को। कोबो दाइशी के काल तक केवल सीमान्त परिवार ही शिक्षा पाते थे, और भयंकर चीनी लिपि में ही लिखते थे। कोबो दाइशी ने सामान्य जनता के बच्चों तक शिक्षा पहुंचाने के लिए हीरागाना वर्णमाला की रचना की। इस प्रकार कोबो दाइशी ने शिक्षा का सार्वजनीकरण संस्कृत की प्रेरणा से किया। आज कोयासान् में १२० मन्दिर हैं जिनकी प्राणप्रतिष्ठा संस्कृत मन्त्रों से हुई है। यह वह नगरी है जहां प्राचीनतम अक्षयदीप जलता है। सन् १०२३ में सम्राट् शिराकावा ने इसको प्रज्वलित किया था और तब से आजतक कभी भी नहीं बुझा। इसके साथ ही एक और दीपक है जो अकिंचन बुढ़िया का है जिसे उसने अपने बाल बेचकर जलाया (सामन्तों की प्रेयसियां तब भी कृत्रिम केश धारण करती थीं। राजा और रंक के ज्योतिर्मय दीपक काल को चुनौती दे रहे हैं।) कोयासान् जापान के तांत्रिक सम्प्रदाय शिंगोन का केन्द्र है। शिंगोन में उपासना-मन्त्र संस्कृत के है। इस सम्प्रदाय के बारह सौ मन्दिरों की दैनंदिन पूजा संस्कृत में सम्पन्न होती है। आप जापान में इन मन्दिरों में नाना प्रकार के 'गुना' अथवा 'होम' की गरिमा में भी खो जा सकते हैं। होम के कुछ मन्त्र हैं—"ऊँ पद्मोहभवाय स्वाहा ऊँ वज्रोद् भवाय स्वाहा। ऊँ वज्राग्निप्रदीप्ताय स्वाहा। आविर हूं खं श्री वं हूं त्राः ह्रीः अः भ्रूं।......ज्वल प्रवर्तय हूं।" पिताजी ने जापान से जो संस्कृत के ग्रन्थ एकत्र किए थे उनमें ऐसे मन्त्रों के कई संग्रह हैं। ये सब सिद्धम् लिपि में हैं जो तूलिका

की व्यंजनात्मक वक्रिमाओं और वर्चस्विनी रेखाओं में, अथवा काष्ठलेखनी की सुदृढ़ एवं ओजपूर्ण खिचानों में सुलेखक आचार्य का साधना-जगत् प्रतिबिम्बित करती हैं। कई वर्ष पूर्व जापान के दिल्ली-स्थित राजदूत को जब मैंने सिद्धम् में लिखे मन्त्र दिखाए तब वे बोले—"मैं ये पढ़ नहीं सकता, न ही समझ सकता हूं, परन्तु इनके सुलेख को देखकर अनुभव कर रहा हूं कि ये अक्षर अलौकिक तेज से प्रदीप्त हैं।" उनके कक्ष में अनुपम शैली के पुष्पविन्यास पड़े हुए थे। जापान के शिष्टाचार के अनुसार जब मैंने उनके इकेबाना की विशेषताएं बतानी आरम्भ की, तब वे कुछ विस्मित से कहने लगे—"आपके देश से ही हमने यह पुष्प शैली पाई थी। हमारी संस्कृति भारत की स्मृतियों से सम्पन्न है।" भारतीय आचार्य सातवीं शताब्दी में जब जापान गए तब उन्होंने विश्व-करुणा से प्रेरित हो झंझा से गिरे अथवा धूप से झुलसे पौधों को मन्दिर में प्रश्रय दिया और उनको बड़े प्यार से पाला-पोसा। जापान के शक्ति-संमूढ़ समाज में यह नन्ही सी करुणा जादू बन गई। मन्दिरों में विशालकाय कांस्यपात्रों में और बालूभूरी लकड़ी की मंजूषाओं में सूक्ष्म उपवनिकाएं बनीं, और ये देवप्रतिमा को पंचोपचार के रूप में समर्पित थीं। धीरे-धीरे पौधों के वामनीकरण (miniaturisation) की पद्धति निकली और कम से कम शाखाओं के विन्यास द्वारा अल्पतम कला (minimal art) का प्रारम्भ हुआ। ध्यान-मन्दिरों में इस के साथ-साथ धूप के कलामय उपचार और उद्यान-कला का उद्भव हुआ। यह पुष्प-साधना मन्दिर से जीवन में पहुंची, जैसे कि विवाह कालीन पुष्प सज्जा में दो बाँस के फूलदानों को मिजुहिकी (कलेवा) से बांधा जाता है जो शाश्वत सयोग का प्रतीक है। बड़े फूलदान में श्वेत देवदारू की ग्रन्थिल शाखा पुरुषत्व को जतलाती है, और छोटे फूलदान में श्वेत फूल कोमल सौम्य नारीत्व के प्रतीक हैं। जो सुकान्त भावनाएं और सुमंगलता फूलों के प्रति पुष्प विन्यास कला में है, वे नवदम्पति के जीवन को चिरमंगल में बाँधें। जब तक फूल जीवित रहते हैं इन्हें सींचने के समय यह भावना रहनी चाहिए कि फूल का जीवन आपके प्रेम पर निर्भर है। जब फूल मुर्झा जाते हैं तब उन्हें मन्दिर में ले जाकर, भावनापूर्वक जला देते हैं। लीलामय जगत् सत्य में प्रज्वलित हो उठता है।

एशिया के विशाल प्रांगणों में भारतीयता की सम्पूर्ण थाती के पिताजी ने दर्शन किए, इसके साक्षात्कार की अनुभूति हुई और अपने देशवासियों को दिग्दर्शन कराने के लिए इसके कुछ सारवान् अंश सरस्वती बिहार में एकत्र किए। शतियों के इस आश्चर्यमय अनन्त से घिरा हुआ प्रस्तुत पंक्तियां लिख रहा हूँ। कहीं महा-

कलिंग (आधुनिक फिलिपाइन) के शिलालेख हैं जो भारत-मूलक लिपि में लिखे हुए हैं, कहीं फिलिपाइन की वनजातियों में प्रचलित शब्दों की सूचियाँ हैं, कहीं बोर्नियो से प्राप्त महाराजा मूलवर्मन का संस्कृत शिलालेख है, कहीं द्वीपान्तर (इन्डोनीसिया) से ताड़पत्रों की सहस्रों हस्तलिपियाँ हैं, कहीं बालि की राजधानी डेन्पासार के चौक में प्रतिष्ठित महर्षि व्यास की प्रतिमा का भाचित्र (photograph) है, कही दसवीं शताब्दी के प्राम्बानन् शिवालय कलाप के २४० उपमन्दिरों के सैकड़ों चित्रों की चित्रावली है, कही स्मरदहन का ताड़पत्र रतिदेवी के विलाप को चित्रों की करुणा में ढाल रहा है, कहीं इण्डोनीसिया के कवीश्वर की 'कवि भाषा' में रचित रामायण है, कहीं कम्बुजदेश (Combodia) के ओंकार महामन्दिर के गगनचुम्बी शिखिर और मीलों में फैले अवशेषों के चित्र है, कहीं थाईदेश की रामायण वहां की कला में सजीव हो उठी है, कहीं उदयीमान रवि की अरुणिमा में जगमगाते बैंकांक के छः सौ मन्दिरों के मेरुओं के रंगीन चित्र है, कहीं बर्मा के ताडपत्रों की पंक्ति और बर्मी भाषा में अरमकोष, थाइदेश से नारायण के संगीत, एशियाइ भाषाओं में भारत-भारती की धर्मविजय के शतशः इतिहास, तिब्बत से तीस हजार पांडुलिपियां एवं खनिजवर्णो और चांदी सोने से आलिखित पटचित्रों की वैभवमयी छटा, आदि-आदि सहस्रशः वस्तुएं हैं। पिता जी के संग्रहों की रूपरेखा-मात्र देने के लिए ही कई ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता है। अस्तु जहां कहीं भी पिता जी के पदचिन्हों पर जाने का अवसर मिला वहां के निवासियों की एक ही माँग थी। सब फिर से भारतीय हाथों से 'परमं रूपमैश्वरम्' की ज्योति जगवाना चाहते हैं। आओ दीपक-बन्धुओं, कम्बुज (कम्बोडिया) के ओंकार में और द्वीपान्तर (इन्डोनींसिया) के प्राम्बानन् में बुझे दीपक फिर से जलाएं।





उपनिषदों में शिव तत्त्वमाहात्म्य



पं जौहरीलाल जी 'सांख्याचार्य'

आनन्दाभिलाषी जीव को संसार सागर से पार उतारने के लिये शिव तत्त्वावगमन ही सुदृढ़ पोत है। उपनिषदों में विशद रूप से इस तत्त्व का माहात्म्य है। उसी का सारांश यहां दिया जाता है।

कैवल्योपनिषद् में—

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपम्।
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्॥
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनम् नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छतिभूतयोनिं
समस्तसाक्षि तमसः परस्तात्॥
स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः सः चन्द्रमाः॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥

(१। ६. ६)

इस प्रकार सभी चराचर जगत् एवं स्वयं को श्री सदाशिव में विराजमान जानकर विद्वान् शिवरूप हो जाता है। आत्मा को अरणि और शिव को उत्तरारणि बनाकर इस ज्ञान-निर्मन्थन करने के अभ्यास से बुद्धिमान् के सब पाप नष्ट हो जाते हैं और शिव तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् शिव ही निज माया के कार्य-अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जीवरूप से प्रकट हैं। वही तदंश जीव शरीर धारणकर जाग्रदवस्था में कलत्र-अन्नपान आदि नाना भोगविलास पदार्थों से तृप्त होता है, स्वप्न के कल्पित सुखदुःखों को भोगता एवं सुषुप्तिकाल में तमोगुण से अभिभूत हो आनन्द का अनुभव करता है और जन्मान्तर के कर्मयोग से बार-बार जन्मादि ग्रहण कर तीनों अवस्थाओं में सुखःदुखभोग रूप क्रीड़ा करता है। शिव-तत्ववेत्ता जीव जब यह अनुभव कर लेता है कि जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति आदि प्रपञ्च को जो भगवान प्रकाशित कर रहे हैं वह सदाशिव मैं ही हूं तब वह संसार के सब बन्धनों से छूट जाता है। अवस्थात्रय में जो-जो भोक्ता, भोग्य, भोगपदार्थ हैं, उनसे भिन्न साक्षी चेतन मैं सदाशिव हूँ। जिसमें यह सकल प्रपञ्च होता है, जिसमें यह प्रतिष्ठित है एवं जिसमें यह लय होता है, वह अद्वितीय सत्-चित्-आनन्द स्वरूप शिव मैं ही हूँ। सब गुण मुझी में विद्यमान हैं।

अणोरणीयानहमेव तद्व-
न्महानहं विश्वमहं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो
हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि॥

इन्द्रियरहित होकर भी उनके विषयों को भोगता हूं, मेरी शक्ति अचिन्त्य है—

अपाणिपादोऽहमचिन्त्य शक्तिः
पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो
न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्॥
वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।
न पुण्य पापे मम चास्ति नाशो

---

१. आनंदाश्रम पूना द्वारा प्रकाशित 'उपनिषद समुच्चय': में 'नास्ति' पाठ है।

न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ।।

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति
न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरञ्च ।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं
गुहाशयं निश्कलमद्वितीयम् ।
समस्तसाक्षि सदसद्विहीनं
प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ।।

इस प्रकार जो पुरुष शतरुद्रिय का अध्ययन करता हुआ अपने को माया से परे, अद्वय, शिवस्वरूप समझता है वह अग्निपूत, वायुपूत होता है और ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णस्तेय, कृत्याकृत्य आदि पापों से छूटकर पवित्र हो जाता है एवं जन्म-मरण चक्र से परे होकर शिवसायुज्य को प्राप्त होता है ।

भगवान शिव के महादेव, भव, दिव्य, शंकर, शम्भु, उमाकान्त, हर, नीलकंठ ईश, ईशान, महेश, महेश्वर, परमेश्वर, भर्ग, शर्व, रुद्र, महारुद्र, कालरुद्र, त्रिलोचन, विरूपाक्ष, विश्वरूप, वामदेव, काल, महाकाल, कलविकरण, पशुपति आदि अनेक नाम हैं ।

नारायणोपनिषद् में आपको अनेक नामों से नमस्कार किया गया है—

'शिवाय नमः, शिवलिङ्गाय नमः, भवाय नमः, शर्वाय नमः, शर्वलिङ्गाय नमः, बलाय नमः, बलप्रमथनाय नमः, इत्यादि', एवं 'अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यस्सर्वशर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ।

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम् ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्माशिवो मेऽस्तु सदाशिवोम् ।

नमोहिरण्यबाहवे हिरण्यवर्णाय हिरण्यरूपाय हिरण्यपतयेऽम्बिकापतये उमापतये पशुपतये नमोनमः ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भगवान शिव की सर्व व्यापकता और विराट् रूप का वर्णन है, यथा—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ।।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ।।
एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः—
य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वाभुवनानि गोपाः ।।
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रै--
र्द्यावाभूमि जनयन्देव एक : ।।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।

भक्त को भगवान् रुद्र से अपने आरोग्य, आयुर्वृद्धि, माता-पिता, पुत्र-कलत्र मित्र-सेवक, सैनिक तथा पशु आदि की रक्षा के निमित्त प्रार्थना करनी चाहिए—

याते रुद्र शिवा तनूरघोरा पाप काशिनी तथा नस्तनुवा शान्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि । यामिषुं गिरिषन्त हस्ते विभिर्षयस्तवे शिवां गिरित्र तां कुरु माहि । सीः पुरुषं जगत् । प्रजां मा मे रीरिषः । आयुरुग्र नृचक्षसं त्वा हविषा विधेम । रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् । मा नो अर्द्धकम्मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् । मा नोऽवधीः पितरम्मोत मातरम्मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः । मा न स्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेशु रीरिषः मा नो वीरान् रुद्र भामिनोऽवधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ।

शिवजी सर्वोत्तम देव हैं - संसार में शिवजी ही सब कुछ हैं ।

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्

इन्हीं देव के ज्ञान से मुक्ति होती है।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं

ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति।

नारायणोपनिषद् में मृत्यु का जीतनेवाला शिवजी का प्रसिद्ध मृत्युञ्जय मन्त्र निम्न हैं। यत्र्म्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्द्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।

जाबाल और रामोत्तरतापिनी उपनिषदों में भगवान रुद्र कुरुक्षेत्र में प्राणियों को अन्त समय तारक मन्त्र का उपदेश देते हैं जिसके द्वारा जीव अमर होते हैं—मुक्ति पाते हैं :—

अत्र (कुरुक्षेत्रे) हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृति भूत्वा मोक्षी भवति।

बृहज्जाबाल और रुद्राक्ष जाबाल उपनिषदों में शिवमाहात्म्य एवं शिवस्मरण पूर्वक भस्म और रुद्राक्ष धारण करने से शिव-सायुज्य-प्राप्ति वर्णित है।

यज्ज्ञानाग्निः स्वातिरिक्तभ्रमं भस्म करोति तत्।
बृहज्जाबाल निगम शिरोवेद्यमहं महः॥
रुद्राक्षोपनिषद्वेद्यं महारुद्रतयोज्वलम्।
प्रतियोगिविनिर्मुक्तं शिव मात्र पदं भजे॥

शिव शक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन।
शिवसायुज्यमाप्नोति।

गर्भोपनिषद् में गर्भस्थ जीव दुःख निवृत्यर्थ भगवान महेश्वर जी से प्रार्थना करता है—

जब जीव माता के गर्भ में आता है और नवम मास में इसके अङ्ग प्रत्यङ्ग पूरे हो जाते हैं, ज्ञान सामग्री (इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि) के उदय होने से इसको पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्मों का स्मरण आता है, तब यह पश्चात्ताप करता है कि— हा धिक्! मैंने सहस्त्रों जन्म लिये, विविध प्रकार के भोजन-पान-किये, अनेक माताओं के स्तनों का दूध पिया, अनेक बार मरा और जन्मा। जिन कुटुम्बियों के पालन पोषण के लिए

मैंने अगणित पुण्य पाप कर्म किये, वे प्यारे कुटुम्बी तो खा पी कर सुख भोग कर चल दिये ; किंतु पापों का फल-दुःख मैं अकेला ही भोग रहा हूं । हाय ! इस दुःख के समुद्र में पड़ा हुआ मैं नरकाग्नि में जल रहा हूं । इससे छुटकारे का उपाय मुझे नहीं सूझ पड़ता ! क्या करूं, कहाँ जाऊं ? हे महेश्वर ! इस घोर संकट में रक्षा करो । यदि इस योनि से मैं छूट जाऊँ तो हे सब पापों के नाश करने वाले दीनबन्धो मुक्ति के दाता, मैं आपका भजन करूंगा, आपका ध्यान करूंगा ।

पूर्व योनिसहस्त्राणि दृष्टवा चैव ततोमया ।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधास्तनाः ।।
जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनर्पुनः ।
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् ।।
एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः ।
अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम ।।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम् ।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ।।

भक्त-वत्सल भगवान् सदाशिव जीव की पुकार सुनते हैं और इसको गर्भ के संकट से मुक्त करते हैं ।।





राष्ट्र-कवि कालिदास

—डा० सीताराम सहगल

भाषा और साहित्य की अनुपम सृष्टि से एक मानव दूसरे को अपने भाव तथा अनुभूतियों का आदान-प्रदान कर सकता है। क्षण भर के लिए मान लीजिए कि हम एक ऐसे देश में पहुँच जाते हैं जहाँ की भाषा हमें मालूम नहीं। भूख से जान निकल रही है और प्यास से मुख सूख रहा है। ऐसी स्थिति में हम क्या करेंगे। संकेतों से वहाँ अपनी अनुभूतियों को किसी प्रकार अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करेंगे। इसी तथ्य को संस्कृत के एक महान् आलोचक दण्डी ने विश्लेषण करते हुए कहा है-यदि संसार में शब्द-रूपी ज्योति न होती तो सब कुछ अंधकारमय हो जाता। मानव[1] ने भाषा की सृष्टि करके विश्व को नया प्रकाश दिया है। साहित्य-सर्जन करके कलाकारों ने मानवीय एकता उत्पन्न की है। यदि भारत में रामायण और महाभारत न लिखे जाते तो भारत का क्या रूप होता ? निश्चय ही आज के भारत से उसका रूप भिन्न हो जाता। इन ग्रन्थों ने दक्षिण-पूर्व एशिया के कई देशों को भी एकता प्रदान की है।

गुप्त साम्राज्य में राजनीतिक विजय के पश्चात् सांस्कृतिक एकता का प्रश्न आज की भांति था। उस समय इस योजना को पूरा करने का श्रेय महाकवि कालिदास को हुआ। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से इस महान् देश की विभिन्नता में सुनहरी एकता का दर्शन किया जिसका आधार था समन्वय। प्राचीन और नवीन तथ्यों का परीक्षण करने के बाद जो उपादेयांश था उनका विश्लेषण उन्होंने अपने ग्रन्थ में किया। उन्हें वेद और रामायण में अटूट श्रद्धा थी, जिनका उल्लेख उनके काव्यों और नाटकों में पाया जाता है।

इस समन्वय के मार्ग पर चल कर महाकवि ने साहित्य के क्षेत्र में सुनहरे चरण जोड़ दिए। रामायण और महाभारत की सृष्टि के अनन्तर कालिदास के ग्रन्थ लोकप्रियता की कसौटी पर खरे उतरे। इसका क्या प्रमाण है ? कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक की चार शाखाएं मिलती है जो देश के चारों कोनों में

१—'वंखरी वाक्' सिद्धान्त से यह मत भिन्न है। संम्पादक

फैली हुई थी । लोकप्रियता के कारण इसके पाठभेद और नये उपदृश्यों की सृष्टि अकाट्य प्रमाण है । कालिदास का अनमोल रत्न शाकुन्तल इन चार रूपान्तरों में खोया हुआ है । विक्रमोर्वशीय त्रोटक की भी ऐसी कहानी है । उसके भी कई रूपान्तर हैं । ग्रन्थ की जितनी लोकप्रियता होती है उसमें उतने ही पाठभेद हो जाते हैं । मुद्रणालयों के अभाव में इस समस्या ने एक नया रूप धारण कर लिया था । ऐसी ही समस्या तुलसीदास रचित रामायण की भी है, उसमें भी अनेक प्रक्षेपक पाये गए हैं । इन सबका कारण लोकप्रियता थी जिससे देश के विचारों में एकता पैदा हुई ।

गुप्त साम्राज्य में भारत की राष्ट्रभाषा संस्कृत थी । जैसे आजकल अंग्रेजी भारत की पटरानी बनी हुई है वैसे ही उस समय संस्कृत का आदरपूर्ण स्थान था । यह सत्य है कि उस समय जनता की बोली प्राकृत थी । नाटकों में अधम पात्र प्राकृत बोलते थे । जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में स्त्री-पात्रों तथा धीवर के संवाद प्राकृत में मिलते है । परन्तु इस तथ्य को मानने में किसी को भी आपति नहीं हो सकती कि उस समय सभी वर्ग संस्कृत समझता था और बोलने के लिए लालायित था । आज भी हम देखते हैं कि बात-बात में शिक्षित वर्ग अंग्रेजी शब्दों तथा वाक्यों का प्रयोग करता ही है । अपनी बोली में भी अंग्रेजी के शब्दों के बिना वह खोया खोया सा अपने को पाता है । यही दशा गुप्त समय में संस्कृत की थी ।

आज भारत की प्रत्येक प्रादेशिक भाषा अपने भण्डार को संस्कृत के शब्दों का दोहन करके साहित्य-सर्जन करती है । साहित्य की जितनी भी विधाएं है उनमें बहुतों का आदिस्रोत संस्कृत ही है । संस्कृत का साहित्व लैटिन और ग्रीक से कई गुणा अधिक है । अलंकार के कई ग्रन्थ अभी तक अमुद्रित हैं और उन पर लिखी गई टीकाएं प्राच्य विद्या भण्डारों में कीड़ों का खाद्य बन रही है ।

छटी शताब्दी से देश के महान् आलोचकों ने कालिदास वाङ्मय की सार्वभौमिकता को माना है । सबसे पहले काव्यादर्श के प्रणेता दण्डी ने एक सुभाषित द्वारा कालिदास को वैदर्भी रीति का महान् कवि कहा । संस्कृत के सुभाषित का अनुवाद इस प्रकार है ।

जिसकी वाणी ऊंच नीच, निर्बन्ध-कलुष को लाँघ गई,
अपने मधुर-स्नेह रस जल से दुर्जनता को बाँध गई ।
ऐसी धारा बही कि जिसने भू को स्वर्ग बनाया,

तू ने ही ओ अमर पुत्र, विष से भी अमिय बहाया ॥

हर्षवर्धन के राजकवि बाण ने कालिदास की सूक्तियों को आम्र मञ्जरियों की तुलना दी। दसवीं शताब्दी में राज शेखर ने कहा कि यदि कालिदास ने एक ही शाकुन्तल नाटक लिखा होता तो पर्याप्त था। तीन नाटकों की सृष्टि तो विश्व के लिए महान् मेरुदण्ड है।

उदय सुन्दरी के प्रथित कवि सोड्ढल ने ग्यारहवीं शताब्दी में कालिदास के बारे में कहा है :

जिसकी रचना सत्य, शिवं और सुन्दरता को जोड़ रही
जिसकी ख्याति स्वर्ग और धरती का अन्तर तोड़ रही
ऐसी वाणी प्रखर कि जग का तमस् मिटा उजियाला बन
जैसे रघुकुल की ख्याति से खिले शीत तापित का मन।

इस प्रकार कालिदास पर सुभाषितों पर सुभाषित लिखे गए और देश के कलाकारों के लिए उसकी भाषा और भावों की अनुपम निधि प्रेरणाप्रद बनी रही। बंगाल के सर्वश्रेष्ठ कलाकार बंकिमचन्द चटर्जी ने बँगला भाषा को संस्कृत की श्री से मन्डित किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी रचनाओं से देश तथा विश्व को कालिदास तथा उसके साहित्य के लिए नया आकर्षण पैदा कर दिया।

कालिदास के वाङ्मय से आज के सभी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं को मन्डित किया है। कवि के नाटकों तथा काव्यों के कई समश्लोकी अनुवाद समय-समय पर हो चुके हैं। गुजरात के टैगौर नानालाल ने तथा कीलाभाई भट्ट, केशव लाल ध्रुव, बलवन्त राम ठाकोर तथा मनसुखलाल झवेरी ने इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है। इसी तरह मराठी भाषा में चिपलूणकर, गंगावरदामले, भीमराव, गणेश लोले, केशव गोडबोले माधव लेले आदि अनुवादकों के नाम प्रसिद्ध है। इनसे प्रभावित होकर आज के कई कवियों तथा नाटककारों ने प्रेरणा लेकर अपनी अपनी रचनाओं द्वारा देश की एकता को सुदृढ़ बनाया है।

मलयालम् भाषा में महाकवि वल्लात्तोल ने शाकुन्तल का और महान् राजनीतिज्ञ पणिक्कर ने कुमारसम्भवम् का अनुवाद किया। दृश्य काव्यों की रचना पर कालिदास का अमिट प्रभाव है। उड़िया भाषा में कविवर राधा नाथ ने कालिदास

के 'वागार्थविव संपृक्तौ' अर्थात् शब्द और अर्थ के नित सम्बन्ध को अपना गुरु माना और साहित्य की मनोहारी सृष्टि की।

जर्मनी का राष्ट्र कवि गेटे देश और काल की सीमाओं को लांघता हुआ गाने लगा—

ग्रीष्म ऋतु का वैभव
और वासन्तिक शोभा
जो कुछ भी सृष्टि पर
मोहित करने वाला
स्वर्ग और पृथवी का
वह सब महिमा सखे
इसी शाकुन्तल में है।

गेटे ने अपने फौस्ट नामक नाटक की भूमिका में शाकुन्तल की प्रस्तावना का अनुकरण किया।

जैसा कि पहले लिखा गया है कवीन्द्र रवीन्द्र ने कालीदास की अमर भारती की भी व्याख्या की है। वह व्याख्या मल्लिनाथ से कम नहीं है। कालीदास में एक और गृह-धर्म का कल्याण बन्धन दूसरी ओर निर्लिप्त आत्मा का बन्धनमोचन ये दोनों भारतीय संस्कृति के तत्व निखर पड़े हैं। संसार में भारतबर्ष तपस्या के आसन पर अकेला विराजमान है। भारतीय शास्त्रों में नरनारी का संयत सम्बन्ध कठिन अनुशासन के रूप में है। यह सौन्दर्य, श्री और कल्याण में परिणत है

'मनुष्य परस्पर विच्छिन्न द्वीपों के समान है। उनके बीच में अपरिमेय अश्रु-लवणाक्त समुद्र स्थित है। दूर से हम एक दूसरे को देख सकते हैं। तव यह भावना सहसा जाग उठती है कि हम लोग किसी समय एक ही महादेश के रूप में थे परन्तु अब किसी अज्ञात अभिशाप के कारण हमारे बीच में विच्छेद का विलाप-समूह फेनिल होकर उमड़ा पड़ा है। हम लोगों में मनुष्यत्व का घनिष्ठ सम्बन्ध और काल का निष्ठुर व्यवधान है। कवि की कृपा से वह अतीत कार्य अमर सौन्दर्य की अलकापुरी परिणत हो गया है और हम लोग अपने विरह-विच्छिन्न इस वर्तमान मृत्यलोक से कल्पना का मेघ दूर भेज रहे हैं।

कवीन्द्र रवीन्द्र ठाकुर की हृत्तन्त्री भी बरबस झंकृत हो उठी :

कविवर कबे
कौन विस्मृत बरषे,
कोन पुण्य आषाढेर
प्रथम दिवसे
लिखे छिले मेघदूत ।





अविद्या बीज विध्वंसाद्यमार्षेण चक्षुषा ।
कालौ भूत भविष्यन्तौ वर्तमानमवीविशत् ॥

अनर्घराघ

कवि अपनी आर्षदृष्टि से अविद्या के रहस्य का भेदनकर भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में अवस्थित रहता है ।

महाभारत का परिचय



श्री गुरदत्त वैद्य

भारतीय साहित्य में रामायण और महाभारत का अति उच्च स्थान है। बाल्मीकि रामायण तो काव्य की दृष्टि से एक अत्युत्तम ग्रन्थ है। वैदिक संस्कृति का बहुत श्रेष्ठ निरूपण इसमें मिलता है और तत्कालीन इतिहास का वर्णन भी है। बाल्मीकि जी ने इसके उत्तर काण्ड में राम जीवन की पृष्ट भूमि लिख दी है।

परन्तु महाभारत तो रामायण से बड़ा है और इसका क्षेत्र भी रामायण से अधिक विस्तृत है। यह ग्रन्थ क्या है, अर्थात् इस में क्यालिखा, है और जो कुछ लिखा है वह किस काल के साथ सम्बन्ध रखता है ? यह भी इस ग्रन्थ में वर्णन किया गया।

हम महाभारत के ग्रन्थ में से ही महाभारत का परिचय देना चाहते हैं। यह ग्रन्थ सत्यवती-नन्दन महर्षि व्यास जी कालिखा माना जाता है। इस ग्रन्थ का पहली बार पारायण महाराज जनमेजय के समक्ष महर्षि व्यास के शिष्य वैशम्पायन जी ने किया था और उन्होंने पारायण आरम्भ करने से पूर्व यह कहा था।

इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा ।।

म० भा०-१-१ ६२-१४

अर्थात् अमित तेज रखने वाले सत्यवती नन्दन श्री व्यास जी ने एक लाख श्लोकों वाला यह ग्रन्थ पुण्य-कर्म करने वाले (पाण्डवों) के विषय में लिखा है। इस एक श्लोक में श्री वैशम्पायन जी ने ग्रन्थ लेखक को सत्यवती-नन्दन लिखकर यह प्रकट किया है कि पाण्डवों के बाबा के भाई ने ही महाभारत ग्रन्थ लिखा है, जिसमें

एक लाख श्लोक हैं।

परन्तु इस समय उपलब्ध महाभारत में इतने श्लोक नहीं मिलते। कुछ कतिपय समालोचकों का यह कहना है कि इसमें कुछ श्लोक पीछे से मिलाये गए हैं। नीलकण्ठी टीका में ८४००० के लगभग श्लोक मिलते हैं; हरिवंश के सोलह सहस्र श्लोक मिलाने से संख्या एक लाख के लगभग बन जाती है।

पूना के आलोचनात्मक संस्करण (Critical edition) में तो श्लोक और भी कम हैं। परन्तु इस योजना में कम होने की सम्भावना ही है, कारण यह कि इस संस्करण में उन श्लोकों को ही लिया गया है जो अधिक से अधिक संस्करणों में मिलते हैं।

यह बात तो सन्देह रहित है कि महाभारत बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इसमें एक लाख के लगभग श्लोक हैं और अनेक विषयों पर व्याख्यान हैं। वैशम्पायन जी कहते हैं—

अस्मिन्नर्थश्च धर्मश्च निखिलेनोपदिश्यते।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी॥
धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥

म० भा० १-१-६२-१७,२३

अर्थात् इस ग्रन्थ में पूर्ण रूप से अर्थ और धर्म का उपदेश है। इसमें इतिहास है और महा पवित्र मोक्ष दिलाने वाली बुद्धि का भी उपदेश है। अमित बुद्धि वाले व्यास जी ने इसमें धर्मशास्त्र और उत्तम अर्थशास्त्र और सबसे उत्तम मोक्ष शास्त्र का वर्णन किया है। धर्म शास्त्र, अर्थ शास्त्र मोक्ष शास्त्र के वर्णन में कुछ कथाएँ इस प्रकार लिखी मिलती हैं जो इतिहास तो नहीं, वरंच सत्य है; सत्य इस अर्थ में कि उन कथाओं के निष्कर्ष शाश्वत सत्य का निरूपण करते हैं।

महाभारत ग्रन्थ का परिचय प्राप्त करने के लिए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उन कथाओं को इतिहास का अंग नहीं मान लेना चाहिए। वे किसी शाश्वत सत्य को प्रकट करने के लिए लिखी गई हैं। उदाहरण के रूप में

ययाति कथा है। ययाति किसी कारण से पुंसत्वहीन होगया था। महर्षि शुक्राचार्य ने उसे यौवन प्राप्त करने का एक उपाय बताया था। ययाति ने उस उपाय का प्रयोग कर अपने पुत्र पुरु का यौवन प्राप्त कर लिया और फिर उस यौवन से—

पौरवेणाय वयसा ययातिर्नहुषात्मनः ।
प्रतियुक्तो नृपश्रेष्ठश्चचार विषयान् प्रियान् ॥
यथाकामं यथोत्साहं यथाकालं यथासुखम् ।
धर्माविरुद्धं राजेन्द्र यथार्हति स एव हि ॥
(म० भा० १-१-१-८५-१,२)

इसका अर्थ है कि महाराज ययाति ने पुरु का यौवन प्राप्त कर प्रिय विषयों का भोग प्रसन्नता पूर्वक आरम्भ कर दिया। जिसकी जैसी कामना, उत्साह (सामर्थ्य) और समय होता है उसके अनुसार विषयों का भोग धर्मानुसार माना जाता है, और वे यह सब करते थे। इस विषय में यह लेख है—

विश्वाच्या सहितो रेमे व्यभ्राजन्नन्दने वने ।
अलकायां स कालं तु मेरुश्रृङ्गे तथोतरे ॥
यदा स पश्यते कालं धर्मात्मा तं महीपतिः ।
पूर्णं मत्वा ततः कालं पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥
(म० भा० १-१-८५-९,१०)

ययाति विश्वाची अप्सरा के साथ अलका पुरी में मेरु पर्वत पर रमण करते रहे। यह कार्य सहस्र वर्ष तक चलता रहा जब उस धर्मात्मा राजा ने देखा कि यौवन-काल समाप्त हो रहा है तब वहाँ से अपने पुत्र के पास आ गया और उसका यौवन वापस कर दिया।

यह कथा है। इसमें कितना सत्य है और कितना अंश कल्पना का है, यहां विचारणीय नहीं। महर्षि व्यास ने इस कथा के द्वारा एक बात का वर्णन किया है। वह यह कि भोग विलास यदि मर्यादा के भीतर हो तो उसकी प्राप्ति पर भी मनुष्य धर्मात्मा बना रह सकता है। इतना धर्मात्मा, कि जीवन के अन्त होने पर वह स्वर्ग लोक को प्राप्त हो सके।

स्वर्गमितौ गतः (म० भा० १-१-८६-२)

यह स्वर्ग लोक उनको विषय-भोग करने के परिणाम से नहीं मिला। न यह विश्वाची अप्सरा के साथ रमण करने का ही फल था। इस स्वर्ग प्राप्ति के कारण को महर्षि इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :

देवानतर्पयद् यज्ञैः श्राद्धैस्तद्वत् पितृनपि।
दीनाननुग्रहैरिष्टैः कामैश्च द्विजसत्तमान्॥
अतिथीनन्नपानैश्च विशश्च परिपालनैः।
आनृशंस्येन शूद्रांश्च दस्यून् संनिग्रहेण च॥
धर्मेण च प्रजाः सर्वा यथावदनुरञ्जयन्।
ययातिः मालयामास साक्षादिन्द्र इवापुरः॥

(म० भा०-१-१-८६-३,४,५)

अर्थात् ययातिने यज्ञों के द्वारा देवताओं को, श्राद्धों के द्वारा पितरों को, दीन दुखियों को अनुग्रह के अनुसार, मुंह मांगी भोग्य वस्तुएं ब्राह्मणों को देकर प्रसन्न किया। अतिथियों की अन्न-जल से, वैश्यों की उनके धन-सम्पदा की रक्षा कर के, शूद्रों को दया भाव से और लुटेरों को कैद कर और सम्पूर्ण प्रजाओं का धर्म-पूर्वक रक्षण और पालन कर उन्होंने साक्षात् इन्द्र के समान राज्य चलाया। इन कर्मों के करने से ययाति को स्वर्ग लोक मे वास मिला, ऐसा महर्षि का कथन है। अभिप्राय यह कि काल, सामर्थ्य और कामनाओं के अनुसार धर्म-पूर्वक विषयों का भोग स्वर्ग प्राप्ति में बाधक नहीं होता।

यहां कथा के ऐतिहासिक होंने का प्रश्न नहीं। यह तो धर्म के स्वरूप का वर्णन करने के लिए कथा लिखी गयी है। महर्षि को यहां यह बताना अभीष्ट था कि काल, सामर्थ्य और धर्मानुसार विषयों के सेवन से ममुष्य को स्वर्ग लोक प्राप्त करने में बाधा नहीं होती। हाँ, स्वर्ग प्राप्ति के लिए देवताओं को प्रसन्न करने के निमित्त यज्ञ आवश्यक हैं। पितरों को तृप्त करने के लिए श्राद्ध कर्म, दीन-दुखियों पर अनुग्रह, वैश्यों का रक्षण, शूद्रों पर दया भाव और दुष्टों को कठोर दण्ड; ये सब स्वर्ग प्राप्ति में साधक हैं। श्री महाभारत में इस प्रकार की अनेक कथाएँ हैं। कई कथाओं में ऐतिहासिक घटनाओं के कारण भी बताये गए हैं। जैसे धर्म का निरूपण करने में उक्त कथा लिखी गई है, वैसे ही घटनाओं का कारण करने में भी कल्पना से काम लिया गया है। यहां हम द्रोपदी के पांच पतियों की कथा का उल्लेख करते हैं।

कथा इस प्रकार है। महाराज द्रुपद ने अपनी पुत्री द्रोपदी का स्वयंबर रचाथा। उस समय पाण्डु के पांचो पुत्र अपनी माता कुन्ती के साथ वन में अज्ञातवास करते थे। भ्रमण करतेहुए महर्षि व्यास जी मिल गये और वे चाहते थे कि पान्डव द्रौपदी से विवाह कर ले कथा तो यह है कि महर्षि जानते थे कि द्रौपदी कौ महादेव शिव का वर है कि उन्हें पांच पति प्राप्त होंगे। अतः उन्होंने द्रौपदी का, पूर्व जन्म में, एक ऋषि की कन्या होना और अपने लिए योग्य वर माँगने के लिए भगवान् शिव की उपासना करना, तथा भगवान् शिव का प्रसन्न हो द्रौपदी को वर देने की बात सुना दी। महर्षि ने बताया था कि जब महादेव ने वर दिया तो ऋषि कन्या ने आग्रह पूर्वक बार-बार कहा," भगवन्। मुझे योग्य वर प्रदान करिये। द्रौपदी का बार बार कहने का कारण यह था कि वह वर प्राप्ति के लिए आतुर थी, परन्तु भगवान् शिव ने कहा; ······

पञ्चकृत्वस्त्वया ह्युक्तः पतिं देहीत्यहं पुनः। (म० भा०-१-१-१६८-१३)

अर्थात्, तुमने मुझसे पाँच बार कहा कि मुझे तुम्हें वर चाहिए इस कारण अगले जन्म में पाँच वर मिलेंगे।

अतः जब द्रौपदी का विवाह होने लगा तो जहाँ पाँचो भाई आग्रह कर रहे थे कि उन पाँचों का विवाह द्रोपदी से होगा, वहाँ द्रोपदी इसे स्वीकार कर रही थी। कथा का सार यह है कि प्रत्येक घटना इस जन्म अथवा पूर्व जन्म के कर्म-फल से हा होती है। महर्षि ने बताया कि यह अधर्म भी नहीं है; ऐसी प्रथा भी है। अतः हमारा यह कहना है कि महाभारत में जहां इतिहास है, वहां ऐतिहासिक एवं कल्पित कथाओं द्वारा धर्म, अर्थ और मोक्ष की प्राप्ति के उपाय भी बताये गये हैं। इस कारण महाभारत एक पुराण भी है।

महाभारत में किसका इतिहास है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। अतः हम महाभारत का परिचय देने में इस प्रश्न का उत्तर भी दे देना चाहते हैं। इसमें जगत् की रचना का इतिहास है। आदि देव परमात्मा और अव्यक्त अक्षर से जगत के आविर्भाव का इतिहास महाभारत में है; काल-गणना का भी बर्णन इसमें है। सत्य युग का भी जिसे आदि युग भी कहते हैं; इसमें संक्षिप्त सा वर्णन है। बिधिवत् इतिहास त्रेता युग से आरम्भ होता है और तदनन्तर चन्द्र वंशियों का इतिहास भारत युद्ध के अन्त तक इसमें वर्णित है। अतएव महाभारत मुख्यतः चन्द्रवंशियों के इतिहास का ग्रन्थ है। इतिहास से उतर कर यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की भी चर्चा करता है।

धर्म, अर्म और काम समाज के स्वरूप को बनाते हैं। इनका स्रोत तो व्यक्ति ही हैं। व्यक्ति धर्म को करता हैं। अर्थ का उपार्जन भी व्यक्ति ही करता है, और कामनाएं तो व्यक्ति के लिए होती ही हैं, परन्तु महाभारत व्यक्तियों से समाज के निर्माण में कारण और इसका ढंग बताता है। अतएव समाज निर्माण और ढंग में वर्ण-धर्म का उल्लेख भी इसमें मिलता है। वर्ण-धर्म के स्थापन और संचालन में राज्य व्यवस्था एक यन्त्र है, जिसका वर्णन भी महाभारत में विद्यमान है।

इस प्रकार महाभारत में मानव के व्यवहार और कल्याण की पूर्ण सामग्री उपस्थित है इस कारण इसे ज्ञान का भण्डार और वेद का प्रतीक माना जाता है।

वैशम्पायन की उक्ति है :

इदं हि विदैः समितं पवित्रमपि चौत्तमम्।
श्रांव्याणामुत्तमं चैदं पुराणमृषिसंस्तुतम्॥
(मा० भा० १-१-६२-१६)

अर्थात् यह महाभारत ग्रन्थ पुराण है, ऋषियों द्वारा स्तुत है, सुनने के योग्य और उत्तम है, तथा वेदों के समान ज्ञान का भण्डार है।



शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स एव।
शास्त्र-ज्ञाता भी मूर्ख होते हैं परन्तु शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाला वास्तव में प्रशंसनीय है।

श्रेय और सौंदर्य



मोहनलाल श्रीवास्तव

भारतीय और अभारतीय दोनों ही चिन्तन-पक्षों में उत्तम, श्रेष्ठ और सुन्दर की ओर अग्रसर दृष्टि स्पृहणीय है। अपने प्रत्येक क्षण में मनुष्य सुखकारी और हित-कारी विधान एवम् वस्तु के लिए सक्रिय रहता है। सामाजिक और ऐकान्तिक अनुभूति में भी यह ध्येय है। वर्तमान के प्रति असन्तोष और भविष्य के लिए निरन्तर चेष्टा मानवीय इतिहास में ऐसी भाव-भूमियां हैं जिनपर स्थित होकर सुख तथा हित के लिए किए जाने वाले प्रयासों का सूक्ष्म अध्ययन करके मनुष्य की दिशा का स्पष्ट बोध प्राप्त किया जा सकता है। सम्भवतः इसीलिए सुखकारी और हितकारी[1] का भेद उपस्थित करके भारतीय चिन्तन में हितकारी को सर्वथा मान्य और संपूज्य कहा गया है, वैदिक तथा औपनिषदीय चिन्तन में यह द्रष्टव्य है, मनुष्य अज्ञान से ज्ञान की ओर इसलिए जाना चाहता है क्योंकि ज्ञान से उसका हित है। मृत्यु से अमरता उसके लिए अधिक आकांक्षापूर्ण और हितकारी स्थिति है। अमरता में सन्निहित शाश्वत जीवन-लाभ हित का एक प्रतीक है। मनुष्य की आकांक्षा सिद्ध करती है कि वह सर्वदा हित के लिए क्रियाशील रहता है। मनुष्य के ज्ञान और चिन्तन-स्तर के आधार पर उसकी दृष्टि में हित का विभिन्न अर्थ हो सकता है परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसे हित की चिन्ता नहीं है। साहित्य में भी हित भाव की प्रधानता है। 'सहित'[2] (सह+हित) शब्द स्वयं हित की महत्ता को प्रतिपादित करता है। जो हित

---

१. भद्रादधि श्रेयः प्रेहि। ऋ० सं० ७.८.१

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।

तयो श्रेय माददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयोवृणीते। कठो० २,१

२. "सहितस्य भाव साहित्यम्"---साहित्य में "रसमूलकता" और लोकोत्तर "आनन्द" का समावेश साहित्य को जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का क्षेत्र बना देती है। ऐसा

जीवन के लिए अनिवार्यता प्राप्त करता है वही दृष्टि के विभिन्न कोणों में अभिव्यक्त होता है। जीवन और दृष्टि दोनों अन्योऽन्याश्रित और सापेक्ष हैं। इनकी सापेक्षता ही इनका लक्ष्य हो जाता है। सोपक्षता एक रूप और एक पक्ष है। इसके साथ निरपेक्षता भी दर्शनीय है। निरन्तर और निरन्तर किसी की प्राप्ति के लिए चिन्तन तथा तज्जनित कार्य जीवन की महनीय अनुसंधान दिशा का महत्वपूर्ण पक्ष है। इसी पक्ष में सुख-हित की सूक्ष्म दर्शन-भूमि विद्यमान रहती है। साहित्य में जहाँ निरन्तर अनुसंधान और चिन्तन का भाव मिलता है वहां अनन्त हित और अनन्त आनन्द का आधार भी मिल जाता है। कला में अभिव्यक्ति की प्रधानता है। अभिव्यक्ति की निरुद्देश्य स्थिति संदिग्ध है। इसमें "के लिए" का भाव व्याप्त है। अभिव्यक्ति में इस प्रकार सापेक्षता विद्यमान समझी जा सकती है। लोकस्वभाव में अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तर हैं। साहित्य-कला में इसके विभिन्न स्तर इसके प्रमाण हैं कि दृष्टि अधिक श्रेष्ठ और उत्तम की ओर है। सृष्टि और कला में निरन्तर नवीनता की लालसा भी उक्त विचार की समर्थक है। कवि माघ ने "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः" कहकर मनुष्य की निरन्तर अभिलाषा की दिशा का मनोवैज्ञानिक संकेत दिया है। रमणीय और नवीनता दोनों ही स्थितियाँ प्रत्येक की अभिलाषा में अनिवार्य हैं। इसमें नवीनता का पक्ष कृति और रमणीयता का पक्ष भोग का भाव प्रदर्शित करता है। सम्भवतः इसीलिए भारतीय विचारकों और साहित्याचार्यों[3] ने आनन्द तत्त्व को सर्वाधिक महत्व दिया है। क्योंकि इसकी नूतनता असंदिग्ध है। आनन्द सुख-स्वाद से सर्वथा ऊपर है। सुख-स्वाद से ऊपर रहने के कारण ही इसके अनुसधान की आवश्य-

---

प्रतीत होता है कि इसीलिए भर्तृहरि (६५०ई० पू० तथा स्व० पं० भगवद्दत्त के अनुसार लगभग प्रथम शती विक्रम) ने साहित्य, संगीत और कला को एक विशेष क्रम देते हुए साहित्य को काव्य का पर्याय माना है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के आगम काण्ड के आरम्भ में "अनादि-निधनं ब्रह्म शब्द-तत्त्वं यदक्षरम्-विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः" से शब्द-तत्त्व की शाश्वतता की ओर संकेत किया है। पं० भगवद्दत्त ने भर्तृहरि से पूर्व आचार्य व्याडिको शब्दब्रह्मवादी कहा है। वैदिक वाङ्मय का इतिहास पृ० ६

महाकवि कालिदास का "वागर्थाविव सम्पृक्तौवागर्थप्रतिपत्तये" रघुवंश का मंगलाचरण भी इस संदर्भ में ध्यातव्य है।

१. आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेतिकुतश्चन ।। तैत्तिरीयोपनिषद् २.६

कता प्रतीत होती है । पण्डितराज जगन्नाथ ने "पुनःपुनः अनुसन्धानात्मा भावना विशेषः" कहकर आनन्द के अपरिमित चमत्कार की ओर संकेत किया है । जिसके रूप और लक्षण की प्राप्ति हो जाती है उसके अनुसंधान का प्रश्न ही नहीं उठता। पुनःपुनः पद निरन्तर अनुसंधानगति का सूचक प्रतीत होता है । हजारों सूर्यों के एक साथ[4] उत्पन्न होने से प्राप्त प्रकाश को मूल प्रकाश की समानता में अशक्त बताने का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि जो कुछ दृश्यमान है उससे अन्यतम दृश्य और प्रकाश अभी प्राप्त करना है । इस विचार में अधिकाधिक उत्तम श्रेष्ठ और सुन्दर की कल्पना इस का द्योतक है कि मनुष्य अनन्त और अपार की ओर जाना चाहता है । आधुनिक विज्ञान प्राचीन की उपेक्षा कर सकता है परन्तु वह इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि अनन्त की अनन्त सृष्टि के अनन्त रहस्य के लिए वह लालायित है । भारत के मानस रचनाकार ने "हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता" कहकर इस तथ्य का काव्यात्मक स्वरुप ही तो प्रस्तुत किया है । अनन्तता का सौंदर्य अनन्त ही होगा। कवि माघ[5] की क्षणानुक्षण उद्भूत होने वाली रमणीयता पंडित राज जगन्नाथ के शब्दों में पुनः पुनः अनुसंधानात्मा भाव विशेष बनकर उतर आयी और रामचरित के गायक ने उसे अनन्ता कहकर जिस अन्यतम नवीनता और उसकी रमणीयता का बोध कराया है वह सर्वथा दर्शनीय है तथा हमें यह आधार देता है कि हम अपने जीवन में सर्वाधिक हित की ओर चलें । सर्वाधिक हित ही आनन्द मूल हो सकता है। इसे श्रेय कहना अनुचित न होगा । जो जीवन में श्रेय है वही दृष्टि में भी श्रेय है। जीवन एक काव्य है इस लिए दृष्टि को गति-माप मानने में सर्वथा औचित्य है । इन दोनों में श्रेय प्राप्ति को अभीष्ट पुरुषार्थ कहा जाएगा । उपनिषद्कार ने सम्भवतः इसी लिए श्रेय और प्रेय दोनों[6] मार्गों में बुद्धिमान और विवेकी व्यक्तियों द्वारा श्रेय को महत्त्व देने की बात कही है । साहित्यकला को जीवन दृष्टि से पृथक करके नहीं देखा जा सकता । इस कारण इनमें भी श्रेष्ठ और अलौकिक रूप में जो प्राप्य है वह श्रेय है । श्रेय प्राप्ति—लक्ष्य है । सौंदर्य को निष्प्रयोजन

---

४. दिविसूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।। गीता ११.१२

५. क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः । माघ, शिशु० ४.१७

६. कठोपनिषद् १.२

आनन्द कहकर स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सम्भवत: श्रेय तत्व की ओर इंगित किया है। डा० सुरेन्द्र नाथदास गुप्त ने सौंदर्य तत्व पर विचार प्रस्तुत करते हुए इसका समर्थन किया है कि सौन्दर्य का आनन्द से घनिष्ठ सम्बन्ध है। फिर सत्व गुण से जैसे पुण्य वृत्ति तथा विमलज्ञान उत्पन्न होते हैं[7] वैसे ही सौन्दर्य-आनन्द उत्पत्ति भी बोध गम्य है। "सौंन्दर्य सार सर्वस्व" की संज्ञा जिसे प्रदान की गई है वह और कुछ नहीं श्रेय का चरम बिन्दु है। यदि सौंदर्य को 'अनिर्वचनीय'[8] कहा जाता है तब यही प्रतीत होता है कि ऐन्द्रिय जगत उसकी अनुभूति में माध्यम होकर भी उसका वर्णन करने में अक्षम रहता है।

स्याम-गौर किमि कहहुं बखानी[9]
गिरा अनयन नयन बिनुवाणी
... ...
देखि सीय सोभा सुख पावा
हृदय सराहत बचनु न आवा—

इसका कारण यह भी हो सकता है कि मन एक समय में एक स्थान पर ही केंन्द्रित हो सकता है। एक ही समय में मन की अनुभूति में केन्द्रित अवस्था वर्णन में नहीं प्रयुक्त हो सकती।

प्रकाश और आनन्द सौंदर्य विषयक दो विशेष चिन्तन बिन्दु हैं। भारतीय अध्यात्म लोक में इन दोनों तत्त्वों का अत्यधिक महत्व है। आनन्द ब्रह्म का विशेष गुण है। सत्-चित्-आनन्द का पूर्ण योग सच्चिदानन्द परब्रह्म है। परमार्थ में यही आनन्द रूप है। मूल तत्त्व में यही ब्रह्म है और चिन्तन के क्षेत्र में चित् होकर व्याप्त है। इस प्रकार इसकी सत्ता परम स्वतंत्र है। जो सर्वत्र व्याप्त है और शक्तिमान है

---

७. डा० सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त 'सौन्दर्य तत्व' पृष्ठ ७२ "सौंदर्य तथा न्यायोन्मुख पवित्र वृत्ति में परस्पर क्या तात्त्विक सम्बन्ध है ... ... जिस सत्वगुण के उद्रेक से सौंदर्य-रस की स्फूर्ति होती है, उसी की भिन्न प्रकार की अनुभूति से पुण्य वृत्ति और विमल ज्ञान भी जन्म लेते हैं।"

८. वही पृष्ठ ७१

९. रामचरितमानस-बालकांड-पुष्प वाटिका निरीक्षण

वही स्वतंत्रता को शिवता और परतंत्रता को जड़ता बताते हुए तंत्र शास्त्र के विशेषज्ञाता आचार्य अमृतवाग्भव ने अपनी दार्शनिक-कृति "आत्म-विलास" में लिखा है—

स्वतन्त्रतैव शिवता जीवता परतन्त्रता ।
शिव: पशुपति: प्रोक्तो: जीव: पशुरितीर्यते । [10]

भगवान शिव को पशुपति कहने का अर्थ यह भी है कि वे जीव पर कृपा करते हैं। यह कृपा कल्याणकारिणी है। कल्याण श्रेय का धर्म है। आनन्दानुभूति और सौंदर्यानुभूति के समय मन स्थिति से हटकर भाव विशेष में स्थित होकर पूर्व स्थिति से मुक्ति प्राप्त करता है। इसे श्रेय और कल्याण की दिशा न मानना उचित नहीं होगा। पूर्ण श्रेय और परम कल्याण के लिये तो मनुष्य निरन्तर तरसता रहता है। इसीलिए उसकी सम्पूर्ण वृत्तियां आनन्दोन्मुखी रहती हैं। लौकिक रूप में उसकी यह स्थिति लौकिक से अधिक अलौकिक के प्रति समझी जा सकती है। लौकिकता और अलौकिकता एक दूसरे से विलक्षण हैं। अलौकिकता की पहचान इसीलिए हो जाती है कि हम लौकिकता को खूब पहचानते हैं। अलौकिक आनन्द और उसके प्रकाश का संकेत संत साहित्य में भरपूर है। भारतीय संतों ने परमज्योति रूपी आनन्द तत्त्व का वर्णन व्यापक आधार पर किया है। परन्तु उसके रूप-रंग और उसकी गति के वर्णन का प्रसंग आने पर अपनी असमर्थता प्रकट की है। यहीं पर लौकिकता और अलौकिकता का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जिस परम प्रकाश और उसके आनन्द के लिए वे तरसते हैं वह परम कल्याणकारी है।

कल्याण के रूप रंग पर भी शास्त्रीय संकेत प्राप्त है। निरुक्त में कल्याण को कमनीय कहा गया है। कमनीयता की[11] अनुभूति कल्याण के उस रूप तक मनुष्य को पहुंचा सकती है जहां से उसे विश्व में सर्वत्र सौन्दर्य ही दिखाई देता है। जो कुछ विश्व में दृष्टिगोचर होता है वह असुन्दर नहीं है। सुन्दरता की विभिन्न स्थितियां हैं। काव्य-शास्त्र में वीभत्स और करुण रस का आस्वादन असुन्दर नहीं कहा जाएगा।

---

१०. आचार्य अमृतवाग्भव आत्मविलास पृष्ठ ४४

११. कल्याणवर्णरूप: कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति । वर्णो वृणोते: । रूपं रोचते: । निरुक्त २.३.३ (श्री वेङ्कटेश्वर संस्करण, मुंबई)

जब इनके आस्वादन के समय मनुष्य की चित्तवृत्ति अपनी वर्तमान अवस्था से हटकर विषय में केन्द्रित होने लगती है तब अलौकिकता का आरम्भ समझा जा सकता है। सौंदर्यानुभूति में संवेदन क्षमता का महत्त्वपूर्ण स्थान इसीलिए बताया गया है कि यह क्षमता मनुष्य को विश्व के स्वभाव और प्राणि-जगत् के निकट लाती है। अन्तर्बाह्य ऐक्य इस प्रकरण में एक विचारणीय बिन्दु है। जे० कृष्णमूर्ति के एक लेख में संवेदन क्षमता पर यह विचार दर्शनीय है। "आप समग्र रूप से अपने शरीर, अपने मन और अपने हृदय के साथ सौंदर्य और कुरूपता दोनों के प्रति संवेदन क्षम हों। एक खूंटे पर बंधे गधे के प्रति, इस शहर की गरीबी और गन्दगी के प्रति, हास और आसुओं के प्रति, अपने आस पास की प्रत्येक वस्तु के प्रति संवेदन क्षम हों। इसी संवेदन क्षमता से हमारे सम्पूर्ण जीवन में करुणा और प्रेम का स्फुरण होता है और इस सवेदन क्षमता की अनुपस्थिति में सौदर्य ही नहीं है।"[12] जे० कृष्णमूर्ति की दृष्टि में संवेदन क्षमता की आवश्यकता और समग्ररूप से संवेदनशील होने का उनका विचार वस्तु जगत् से तादात्य की ओर हमारी दृष्टि को खींचता है। यह इसीलिए ताकि हम बिना रोक टोक संसार के विभिन्न चित्रों द्वारा चित्रकार तक पहुंचने का रास्ता साफ करते रहें। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने उक्त लेख के आरम्भ में यह कहने की आवश्यकता अनुभव की कि सौंदर्य, प्रेम और करुणा की अनुभूति तभी हो सकती है—जब हमारा मन किसी सुन्दर वस्तु के प्रति बिना किसी रुकावट के पूर्णतया संवादित होता है, ताकि हम निश्चित रूप से अखण्ड आनन्द[13] अनुभव कर सकें" अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिए निर्बाध संवेदन क्षमता आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि सवेदन क्षमता और सवेदन-शीलता का लक्ष्य जाने-अनजाने आनन्द है। उपनिषद्कार ने[14] आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" का उद्घोष सम्भवतः इसी दिशा में किया है। प्राणि जगत से आनन्द की प्यास को दूर करना असम्भव है। यह ऐसी प्यास है जो दर-दर की ठोकरें भी खिलाती है और परम ऐकान्तिक अवस्था भी दिलाती है। यह अनुभव की बात है जिसका अहं जितना व्यापक होगा उसमें उतनी ही चिन्मयता होगी। जबतक हूँ (अस्मि) का बोध नहीं होता तबतक (स्वस्ति) का बोध नहीं हो सकता। विश्व जो

---

१२. जे० कृष्णमूर्ति—आन्तरिक सौन्दर्य—जीवन साहित्य पत्रिका पृष्ठ ३३०
१३. वही पृष्ठ ३२६
१४. तैत्ति० ३, ६,

तरह-तरह से चमकता है और तरह-तरह से इसके अवयव भिन्न-भिन्न गुणों का दर्शन कराते हैं उसका आनन्द लेने के लिए उसके साथ तादात्म्य भाव होना आवश्यक है। यह भाव जबरदस्ती उत्पन्न नहीं होता। इसके लिए अहं की व्यापकता आवश्यक है। सम्भवत: स्वतंत्रता का आधार अहं की व्यापकता से ही आरम्भ होता है और परतंत्रता का आधार इस व्यापकता के अज्ञान का परिणाम है। आचार्य अमृतवाग्भव ने स्वतंत्रता को शिव कहकर जो दर्शन-संकेत दिया है वह इस दिशा की ओर उन्मुख प्रतीत होता है।

यहां एक बात और सामने आती है कि जब तक भीतर (मन) में आनन्द अथवा सौंदर्य न होगा तब तक बाहर (जगत) में सौंदर्य का दिखाई देना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। लौकिक व्यवहार में यह अनुभव प्रतिदिन होते हैं। अशुभ घटना से प्रभावित व्यक्ति को बाह्य प्रसाधनों से तब तक सुखी बनाना कठिन हो जाता है जबतक दुर्घटना का बड़ा प्रभाव किसी सुघटना से दब नहीं जाता। इसीलिए जे० कृष्ण मूर्ति कहते हैं कि "भले ही कोई महान सौंदर्य से चाहे घिरा रहे, जब तक वह इन सबके प्रति सजग नहीं है तब तक ये सब उसके लिए निर्जीव हैं।"[15] उनकी दृष्टि में सजगता सौन्दर्यानुभूति के लिए आवश्यक है। यह सजगता वस्तु के माध्यम से रूप विशेष को देखने के लिए होती है। इसका तात्पर्य हुआ कि विषय और विषयी दोनों पर ही सौन्दर्य और आनन्द का प्रभाव होता है। एक माध्यम के रूप में और दूसरा माध्यम से ज्ञाता के रूप में प्रभावित रहता है। डा० दास वैज्ञानिक ज्ञान जैसी कोई वस्तु सौंदर्य के अन्तर्गत नहीं मानते। उनका कहना है कि "हम लोग[16] वैज्ञानिक सत्य के ज्ञान को भी ज्ञान ही कहते हैं, किन्तु न तो सौन्दर्य के अन्तर्गत इस प्रकार का कोई ज्ञान होता है और न न्याय-अन्याय सम्बन्धी सत्-असत् ही प्रकट होता है।" यदि यह कहा जाए कि सौन्दर्यानुभूति में मन ऐसे लोक में पहुँच जाता है जहां उसकी सत्ता किसी सत्ता विशेष से इतनी प्रभावित हो जाती है कि वह अपनी क्रियात्मकता को स्वतंत्र नहीं रख सकती, तो अनुचित न होगा। यदि यही स्थिति मन की निरन्तर बनी रह जाए तो इसे मोक्ष की ओर अग्रसर अथवा

१५. जीवन साहित्य पत्रिका पृ० ३२८

१६. डा० दास—सौ०त० पृ० ७२

समाधिस्थ अथवा अलौकिक जगतवासी कहने में आपत्ति नहीं हो सकती। गुड़ के आनन्द से लेकर समाधि की स्थिति के आनन्द तक का अनुभव सुनने में नहीं आया है, इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने "जेहिं जानहि तेहि देहु जनाई—जानत तुमहिं तुमहि होइ जाई" कहकर लौकिक जगत में अलौकिकता की सिद्धि की सम्भावना की ओर सकेत किया प्रतीत होता है।

सौन्दर्यानुभूति की इस स्थिति को कल्याण (श्रेय) और अलौकिक अवस्था कहना युक्ति पूर्ण और धर्म संगत प्रतीत होता है। काव्य शास्त्र में रसास्वादन की स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही होती है। आनन्द, सौन्दर्य, रस इन तीनों को पृथक पृथक करके शास्त्रीय विश्लेषण के कक्ष में रखा जाय यह तो बात दूसरी है परन्तु इनके स्वभावानुसार इनको एक दूसरे से पृथक कैसे किया जा सकता है, यह एक समस्या है काव्य में "सौभाग्य" शब्द जिसके लिए प्रयुक्त किया गया वह अन्यतमश्रेष्ठ के लिए है। जीवन में सौभाग्य का जो महत्व हो सकता है उससे भिन्न काव्य में कहना अच्छा नहीं लगता।

काव्य में[17] 'सौन्दर्य सम्पदा' और 'सौभाग्य' की ओर इंगित करके आचार्य कुन्तक ने सौन्दर्य के गुणात्मक तत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। सौन्दर्य अपनी शक्ति और गति से मनुष्य को जिस ओर ले जाता है वह मनुष्य का सौभाग्य ही है। अपने जीवन में सब कुछ सुन्दर और सुन्दरतम प्राप्त करने के लिए हम कितने लालायित रहते हैं, इसे आधुनिक युग के विश्व विख्यात् दार्शनिक स्व० लार्ड बर्ट्राण्ड रसेल ने अपनी आत्म कथा में ज्ञान तथा न्याय से भी पूर्व सौन्दर्य (रूप) की पिपासा का उल्लेख अत्यन्त स्पष्ट रूप से किया है। श्रेय से बढ़कर मनुष्य का सौभाग्य और क्या हो सकता है। सम्पूर्णता और मुक्ति ये दोनों ऐसी स्थितियां हैं जिन्हें सौभाग्य ध्येय के रूप में स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी लिए यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य और आनन्द श्रेय विहीन नहीं हो सकते और श्रेय सौन्दर्यानन्द रहित नहीं हो सकता। कवि माघ की यह उक्ति "श्रेयसि केन तृप्यते"[18] इस दिशा में विशेष चिन्त्य है।

---

१७. अपर्यालोचितेप्यर्थे बन्धसौन्दर्य सम्पदा।

... ...

यस्मात् किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम्

सरस्वतीं समभ्येति तदिदानीं विचार्यते। कुन्तक वक्रोक्ति जीवित १.१४.२०

१८. कविमाघ, शि० १.२६

ब्राह्मण साहित्य प्राणतत्त्व काव्य और कलाएं



लेखक—अश्विनी कुमार वर्मा

जयपत्तन (जयपुर) की उस नगरी में जब शिल्प दर्शन की लालसा तीव्र हुई तब कुंभकारों की गली में से होता हुआ 'शिल्प हाट' पहुंच गया । एक संन्यासी भगवान् शिव को रूप देने में दत्तचित्त थे । मेरे पैर छूने पर उनकी 'शिल्प समाधि' टूटी और स्नेह दृष्टि से मेरी ओर निहारने लगे । मैं साहस कर पूछ ही बैठा "आप तो बड़ा शोभन रूप दे रहे हैं भगवान् शिव को !" एक सरल उत्तर था 'तुम तो पागल हो । मैं कौन होता हूं रूप देने वाला । मैं तो महादेव की आराधना कर रहा था ।'.........मैं अवाक् था । काफी देर के वार्तालाप के पश्चात् जब मैंने उनसे भारतीय शिल्प का रहस्य जानना चाहा तब वह मुस्कराके बोले 'बस, प्राण तत्त्व' ।

संन्यासी मेरे लिए रहस्यात्मक सूत्र छोड़ गया । मन व्याकुल रहने लगा । यदि प्राण तत्व भारतीय शिल्प का आधार है तो यह सूत्र कहीं न कहीं वैदिक वाङ्मय में मिलना चाहिये । मथुरा, काशी, दिल्ली, सारनाथ आदि के संग्रहालय देखता, और देखता जब जीवन्त मूर्तियाँ और प्राणान्वित आकृतियाँ तो संन्यासी का रहस्यात्मक सूत्र-वाक्य श्रुतिपथ में बार-बार गूंज जाता । भारतीय शिल्प अध्ययन की प्रख्यात विदुषी स्टेला क्रामरिश और भारतीय शिल्प के महान् उद्धारक आनन्द कुमार स्वामी के विचार मस्तिष्क में रह रह कौंध जाते ' भारतीय शिल्पकार अजाने में योगी रहा होगा ।" योग प्राणतत्व की ही तो साधना है । 'बस, प्राण तत्व' !

प्राणाः शिल्पानि ।। कौ० २५।१२, १३।।

कौषीतकी ब्राह्मण में ऋषि ने कहा प्राण ही शिल्प हैं। प्राणतत्व की साधना करनी होगी उसे जो 'शिल्पकार' ऐसी पावन संज्ञा से अभिहित होना चाहता है। प्राण आत्म संस्कृति का साधन है और शिल्प भी आत्म संस्कृति का साधन है। ऐतरेय ब्राह्मण ने कहा :

"आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते।" ऐ० ६।२७।।

'निश्चय से शिल्प आत्म-संस्कृति के साधन हैं। छन्द पूर्ण शिल्पों की साधना करके यजमान (सुनागरिक) अपना संस्कार कर लेता है।

गोपथकार ने उसी तथ्य का पुनश्च अभिवचन किया : 'आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पानि' गो० ६।७।।

निश्चय से शिल्प ही 'आत्म-संस्कृति-कारक हैं। कौषीतकी ब्राह्मणकार को रह रहकर 'प्राण तत्व' को सारी ललित कलाओं के मूल में अध्ययन करने की बात प्रेरित कर रही थी और वह कह बैठा :

त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति। कौ० २९।५ ।।

'निश्चय से तीन प्रकार का है प्राण तत्त्व 'शिल्प' 'नृत्य' 'संगीत' (गीतम् और वादित्रम्) के रूप में।'

भारत के तथाकथित अन्धकार युग ने इतना गम्भीर सिद्धांत प्रतिपादित किया था कितने 'रूपायित बुद्धि' जानते होंगे। पुराणों में से होते हुए परवर्ती वाङ्मय तक सिद्धान्तों की अविच्छिन्नता किस अविकल रूप में बनी रही है यदि शोधकर्त्ता इस दृष्टि से भारतीय विद्याओं पर कार्य कर सके तो सांस्कृतिक विहान के दिवस इस राष्ट्र के लिए बहुत दूर नहीं होंगे।

'प्राण' वैदिक वाङ्मय में इतनी व्यापक संज्ञा है जिसका अनुमान नही

किया जा सकता। अकेले ब्राह्मण ग्रन्थों में ही तीन सौ से अधिक बार इसका शब्दाधिक रूपों में व्याख्यान हुआ है। महत् तत्त्व के आद्य प्रस्फुटन के रूप में इतने विविध रूपों में वह व्यक्त हुआ कि ऋषि किसी विषय पर भी चिंतन की मूल गहराई में डूबते हुए उसे दृष्टि से ओझल नहीं कर पाये। जिन्होंने बाह्मण ग्रन्थों पर 'ज्ञान व्याजता' (pedantry) अथवा दर्शन विहीनता का आरोप लगाया उन्होंने विश्व को ज्ञान सूत्रों से बञ्चित रखने का जघन्य अपराध किया है। भावी संततियाँ ज्ञान के इन तथाकथित महंतों को कभी क्षमा नहीं करेंगी।

भूत-सृष्टि (physical cosmos) से लेकर मानव सृष्टि (Human creation) या चेतन-सृष्टि तक सबका व्याख्यान करते हुए वैदिक ऋषि को 'प्राण तत्त्व' की सूक्ष्म प्रक्रियाओं का व्याख्यान करना पड़ा। और किसी तत्त्व के विविधात्मक निरूपण में जीवन का कोई अङ्ग बच न जाए इस दृष्टि से ही प्राणतत्त्व को महदण्ड, वाक्, बृहती, मनस्, तन्मात्रा, भूत तन्मात्रा आदि के साथ जोड़ते हुए वदिक ऋषि ने उसे काव्य, नृत्य, चित्र-कला आदि सभी से सम्बद्ध किया। चिंतन की एक सूत्रात्मकता ही सम्भवत: ब्राह्मण ग्रन्थों (एवं अन्य वैदिक साहित्य) की अपनी निजी विशेषता है।

प्राणतत्त्व और काव्य

भारतीय काव्य शास्त्र की मूलभित्ति रस सिद्धान्त है और उसकी जीवनी शक्ति उसके सङ्गीतात्मक होने में। 'रस' और 'सङ्गीत' दोनों मन की सूक्ष्म प्रक्रियाएं हैं। मन की प्राणात्मकता के साथ उनका गहरा सम्बन्ध है। काव्य शास्त्र के रस सिद्धान्त को समझने के लिए सृष्टि विद्या के इस मूलमंत्र को ग्रहण करना होगा। इसके बिना गति नहीं। शब्दाडम्बरों में काव्य सिद्धान्तों को फंसाने वाले काव्यालोचकों को इधर ध्यान देना होगा। कम से कम इस देश में फैशन के नाम पर वे मूल प्रश्नों से बच नहीं सकते। भारत में काव्य और विज्ञान के मूल तत्त्व परस्पर विरोधी न होकर एक ही हैं। कविता और विज्ञान भारत में गलबांही डालकर चले आ रहे हैं। सारे दार्शनिक और वैज्ञानिक ग्रंथों का पद्यबद्ध होना इसी बात का प्रमाण है। 'प्राणा वै धुर:'। ता० १४।६।१८ प्राण सारे रहस्यों की धुरी हैं, इससे कौन नकार कर सकता है।

सहृदय जिस रसानुभूति का अनुभव करता है वह अपने प्राणों में 'आप:' परमाणुओं अथवा आर्द्रता के कारण । और काव्यों के वचनों में 'रस' की आर्द्रता के कारण । 'प्राणा वा आप:' । तै० ३।२१५।२ और 'तस्या: (वाच:) उ प्राण एव रस:' । जै० उ० १।१।७।। इसी भित्ति की ओर संकेत कर रहे हैं । यह 'रस' उत्पन्न होता है आग्नेय परमाणु स्वरूप जो तीव्रानुभूति की ऊष्मा है उसके कारण । उस ऊष्मा के कारण प्राणों में गति अथवा आकुलता बढ़ती है और तत्पश्चात् आप: रूप जो आर्द्रता मन को भिगो जाती है वहां वाक् की स्वाभाविक उत्पत्ति होती है । जो नियामक स्रष्टा के मन में होता है वही (व्यष्टि) मानव के मन में भी । 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' से लेकर 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमा शाश्वती: समा: । यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी: काम मोहिताम्' तक यही सिद्धांत काम करता आ रहा है । तथाविधं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम् । ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत वा०रा० १।१३।। में प्रथम कारुण्य उत्पन्न हुआ और फिर ऋषि के मुख से काव्य वाक् की उत्पत्ति हुई । 'यावद्ध प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वाचा वदति' श० ५।३।५।१६ में याज्ञवल्क्य पुन: इसी सिद्धांत की पुष्टि कर रहे हैं ।

प्राणतत्त्व और संगीत

सारे भारतीय जीवन में प्राण की साधना को यदि दो रूपों में बांट दें तो अनुपयुक्त न होगा । परलोक की साधना के लिये 'योग' और इहलोक की साधना के लिग 'सङ्गीत' । योग और सङ्गीत दोनों प्राण के ही तो खेल हैं । ताण्ड्य ब्राह्मण ने इसी बात को यों रखा :

'यदि व्यवान्यान्मध्य ऋचो व्यवान्यत्प्राणो वै गायत्रं प्राण: स्वर: प्राणमेव तन्मध्यत आत्मन्दधाति स सर्व्वमायुरेति । ता० ६।१।१०१।।

निश्चय से ऋचा को गाते समय स्वर जो फैला, उसे मध्य रूप से फैलाया और उसी प्राण को हल्का करते हुए जो उस स्वर को अपने में धारण कर लेता है वह सारी आयु को प्राप्त कर लेता है । ता० ६।१।१०१।।

यही तो योग है । प्राणों को हल्के हल्के एक स्थिति तक धारण करते हुए और शरीर में व्याप्त करते हुए फिर हल्के हल्के नि:श्वसित करते हुए एक स्थिति पर जा रोक लेना प्राणायाम के रूप में योग का पहला अभ्यास है ।

इस भित्ति से चलकर ब्राह्मण ग्रंथों ने स्वर को उपांशु, मन्द्र, मध्यम, तारतर, उत्तम और तारतमम् की छः स्थितियों में बांधा। आज 'सरेगमपधनी' 'षडज्, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद'' का जो सप्तक है वह यहीं से चला था। सङ्गीत के विद्यार्थियों को परम्परा की इस अवच्छिन्नता पर खोज करनी होगी यह सब गाया जाता था इतना हम जानते हैं। ताण्ड्य में कहा :

'मन्द्रमिवाग्र आददीताथ तारतरमथ तारतमन्तदेभ्यो लोकेभ्यो अगासीत' ।।ता० ६।१।७।।

उद्गीथकार ने सबसे पहले मन्द्र स्वर उठाया, इसके पश्चात् तारतर स्वर उठाया और फिर लोगों के लिए तारतम स्वर पर जा गाया। तां० ६।१।७।।

शतपथ, ताण्ड्य, कौषीतकी, जैमिनीय उपनिषद् आदि के प्रवक्ता से जब भी पूछा गया कि यह कौन गाता है; तब एक और एक स्वर से उन सबका उत्तर था 'प्राण'। कितने सुंदर गायक और कितनी कोमल कंठ गायिकाएं प्राण की साधना के अभाव में टूट गए यह तो सङ्गीत का कोई इतिहासकार ही बताएगा। हम तो शास्त्र के सिद्धांत वचनों को आगे कर देते हैं

प्राण उद्गाता ।। कौ० १७।७।। गो.उ. ५।४ ।।

ते य एवेमे मुख्याः प्राणा एत एवोद्गातारश्चोपगातारश्च ।। जै० उ० १।२२।५।। ये जितने मुख्य प्राण हैं अरे यही तो उद्गाता हैं और उपगाता भी ।। जै.उ.१।२२।५।। प्राणः सामवेदः। श. १४।४।३।१२।। स यः प्राणस्तत्साम। जै.उ. १।२५।१०।। तस्मात्प्राण एव साम। जै.उ. ३।१।१८।। प्राण सङ्गीत की आधारभूमि ही नहीं उसका सर्वस्व है, अरे वही है इसे ऋषि इन घोषणाओं में अभिव्यक्त कर रहे हैं। शतपथकार को जब नहीं रहा गया तो वह कह ही बैठा :

"प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि श०१४।१८।१४।।३।। निश्चित रूप से साम (गायन) प्राण ही है और इस प्राण में सारे भूत बसे हुए हैं ।।

प्रजापति को जब सृष्टि की कल्पना हुई तो वह गा उठा "(प्रजापतिः) प्राणमुद्गीथम्(अकरोत)" जै.उ. १।१३।५।। और यह प्रजापति प्राण ही था। सारे प्रतिरव इसकी ही रमणीक कल्पनाएं हैं "प्राणो वै प्रतिरवाः (यजु० ३८।१५।।) प्राणान्हीदं सर्वं प्रतिरतम् ।। श. १४।२।२।३४।। प्राण ही निश्चय से यह सारा प्रतिरव है। प्रतिरव सृष्टि में कहां नहीं देखने को मिलता। वह सब प्राण है, गायन है। किसी

पुष्ट स्वर गायक को देखकर जैमिनीय उपनिषद्कार कह बैठा था :

एष वशी दीप्ताग्र उद्गीथोयत्प्राण: ।। जै.उ.२।४।१।। यह जो दीप्ताभ गायक है, यह जिसके वश में स्वर नाच रहा है सुनो और कोई नहीं है बस प्राण है प्राण ।... 'प्राणो वाव साम्नस्सुवर्णम्' जै.उ. १।३६।४ यह खिलता हुआ जो गायन है वह है प्राण । अरे गायक प्राण की साधना कर, प्राण की ।

प्राण और नृत्त

रङ्गमञ्च पर नीहारिका जैसी नाच उठने वाली किसी नर्तकी को विविध भङ्गिमाओं को प्रकट करते हुए किसी ऋषि ने देखकर यही तो कहा होगा 'प्राण एष: नृत्यति' । आज भी जब मन में प्राण थिरक उठते हैं तब हम नाचना ही तो प्रारंभ कर देते हैं । जब चित्रकार के प्राण थिरकते हैं तब उसके हाथों की तूलिका नाच उठती है और फलक पर नाच उठते हैं चित्र । अरे प्राणों की आकुलता ही तो झुमा बैठती है नर्तकी को—किसमें साहस है कि नकार करे इस सत्य से ।

नृत्त के तीन ही तो आधार हैं—पदचालना, भुजचालना और नेत्रचालना या शिरोचालना । 'प्राणा वै त्रिवृत्' तां० २।१५।३।।३।६।३।। त्रिवृद्वै प्राणा: । तै० ३।२।३।३।। में प्राण की इस त्रिवृत्तात्मकता का संकेत किया गया । 'त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितम्—कौ. २६।५।। में प्राण को शिल्प, नृत्य, गीत और वादित का आधार कहा गया । इन सबमें प्रवाहात्मकता यह जो गुण है वह समान है । 'प्राणो वै प्रवान्' । श.१।४।३।३ में प्राणों को प्रवाही कहा गया । मन की तरणी पर प्राणों को चढ़ाकर नर्तकी किसी भी अङ्ग की वशी चालना से सब कुछ अभिव्यक्त कर जाती है । रङ्गमञ्च पर जिन पदावलियों को छोड़ जाती है वहां दर्शक के प्राण मानों अटके से रह जाते हों...शतपथकार याज्ञवल्क्य जनक की राज्यसभा में एक ऐसी ही नर्तकी को नृत्य करते देख विस्मयाविद्ध हो कह उठा था लेखासु हीमे प्राणा श. ७।२।२।१८।।' अरे इन रेखाओं में वह अपने प्राण छोड़ गई है । 'प्राणा वै भुज:' । श.७।५।१।२१।। 'प्राणा वा ऋतुयाजा:" ऐ.३।२०।। कौ० १३।६।। गो. ३।३।७ प्राणों वै पवमान: । श० २।२।१।६ प्राणो हृदये (श्रित:) । तै.३।१०।८।५।। शिरो वै प्राणानां योनि: ।।श०७।५।१।२२।। भुजाओं में प्राण का बास करके प्राणों को

ऋतुयाजी बनाकार, प्राणों को पवमानी बनाने की साधना में निष्णात होकर, प्राणों को हृदय में बसाकर और आंखों में प्राण लाकर यदि जो रङ्गमञ्च पर आ सकता हो तो नूपुर बांधे अन्यथा उसे युगों तक प्रतीक्षा करनी होगी।

प्राण और प्रस्तर शिल्प

छन्दोमय जगत् हमारे ज्ञान की अपर्व कल्पना है। हमारा काव्य छन्दोमय है, हमारा संगीत छन्दोमय है और हमारा शिल्प छन्दोमय है। छन्द एक विशद संज्ञा है। स्वयं जगत् को छन्द बताते हुए शतपथकार ने कहा 'असौ वै लोकोऽक्षर-पङ्क्तिश्छन्दः ॥ श०८।५।२।४॥' निश्चय ही यह लोक अक्षरपङ्क्ति है, छन्द है।" और 'विराजो वा एनद्रपंयदक्षरम् '। तां० ८।६।१४॥" अक्षर रूपात्मक यह जगत् विराट् है'। इस विराट् छन्दात्मक जगत् की सुदृढ़ कल्पना को समक्ष रखकर छन्दोमय भारतीय शिल्प की कल्पना की गई। त्वष्टा आद्य शिल्पी है। वेदों का त्वष्टा छन्दोमय जगत् का कर्ता है। उसी का नाम ऐतिहासिक आद्य शिल्पी को दे दिया गया। कारण स्पष्ट था, वैदिक व्याख्याताओं ने त्वष्टा को रुपदाता कहा 'त्वष्टा पशूनां मिथुनानां रूपकृद्रूपपतिः' तै०।२।५।७।४॥' 'त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत् ॥ तै०३।८।११।२॥ त्वष्टा वै पशूनां रूपाणां विकर्ता तां० ६।१०।३ त्वष्टा वै रूपाणामीशे। तै० १।४।७।१॥ त्वष्टा श्रियः रूपाणि (आदत्त)। श० ११।४।३ ३॥ 'निश्चय से त्वष्टा पशुओं व युगलों (स्त्री-पुरुषों) को रूप प्रदान करता है' 'त्वष्टा ने शोभन रूप दिये' त्वष्टा रूपों का स्वामी है, इत्यादि। वैदिक साहित्य में त्वष्टा प्रजापति का दूसरा नाम है। शिल्पी त्वष्टा के समानवाची के रूप में प्रजापति ही है। शिल्पी भी निश्चय से रूपों का स्वामी है। पशुओं, वृक्षों, युगलों के रूप का वह नियामक है इससे तो नकार नहीं किया जा सकता।

शिल्पी को विष्णुपुराण ने योगी बताया। प्रस्तर या अन्य जिस भी उपकरण को मूर्ति के निर्माण मे वह उपयोग में लाता है उसके साथ वह कितना तल्लीन हो जाता है इसकी कल्पना की जा सकती है। शिल्पी का मुख्य उद्देश्य रहता है प्रस्तर को प्राण या श्री प्रदान करना। और सरल भाषा में कहें तो कहेंगे रूप प्रदान करने की साधना ही शिल्प की साधना है। पर यह होता कैसे है ?

शिल्पी प्राण की जब साधना अपने में करता है तो वह प्रजापति हो जाता

है। प्राणो हि प्रजापतिः।श०४।५।५।१३ अथ यस्स प्राणः आसीत्स प्रजापतिरभवत्। जै० उ० २।२।६ प्राणो वाव कः। जैं०उप० ४।३३।४।। में कई बार प्राणों को प्रजापति इसी हेतु कहा गया। ऐसा शिल्पी वायु रूप में सञ्चरित होने वाले प्राणों पर जब वश पा लेता है तब उसकी छेनी प्रस्तर पर उसकी इच्छानुसार नाचने लगती है। अंगुलियों में प्रवाहित मारुत प्रस्तर को रूप प्रदान करवा देते हैं। भारतीय तत्व चिंतन में रूप का सम्बन्ध अग्नि और वायु दोनों के साथ इसी कारण जोड़ा गया। ब्राह्मण साहित्य में प्राण को एक साथ मातरिश्वा (अग्नि) और मारुत या वायु के साथ जोड़ा गया उस पर ध्यान देना आवश्यक है। 'विच्छन्दाश्छन्दो वायुर्देवता प्राणाः श० १०।३।२।१२ 'छन्दमुक्त और छन्दपूर्ण वायु देवता प्राण ही हैं' यो वै प्राणः स वातः श० ११।१।२।१४ प्राणो मातरिश्वा। ऐ० २।३८। प्राणः वै मारुताः श० ६।३।१।७ यः प्राणः स वरुणः। गो० उ० ४।११ न जाने कितने वाक्य हैं जो प्राण के रूप प्रदान करने के रहस्य को खोलने का प्रयास कर रहे हैं सुन्दर स्वरूप की कल्पना बिना प्राण के की ही नहीं जा सकती। 'प्राणो वै युवा सुवासाः (ऋ० ३।८।४) ऐ० १।२।। निश्चय से सुंदर वस्त्र वाले युवा प्राण ही हैं। प्राणो वै० सुसन्दृक् त० १।६।६।६ तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्राणों कों निश्चय से शोभन दीखने वाला कहा। मूर्तियों में जब ये प्राण शिल्पी द्वारा डाल दिए जाते हैं तब 'प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठिानः श० ४।४।१।१४।। 'निश्चय से प्राण सुन्दर रूप वाले हैं और सुप्रतिष्ठित हैं' सिद्ध हो जाता है। भारतीय शिल्पी का एक ही स्वप्न रहता है कि कैसे वह मूर्तियों में प्राण डाल दे। उसकी साधना रहती है कि जिन देवताओं के प्राणों का संदर्शन उसने अपने प्राणों में किया है उन प्राणों को अपने प्राणों के साथ प्रस्तर निर्मित आकृति में उड़ेल दे। तभी तो उस दिन लखनऊ में महापात्र, जो एक विस्मयकारी स्रष्टा हैं, से पूछा गया कि आपने भगवान् राम की मूर्ति क्यों नहीं बनाई वह व्याकुल हो कह बैठे थे "यही एक स्वप्न है जो पूरा नहीं होता; जब तक भगवान् स्वप्न म दर्शन देकर मेरे प्राणों में बस नहीं जाते मैं उनकी मूर्ति कैसे बनाऊँ।" और ऐसे ही किसी हठी शिल्पी को देखकर कौषीतकीकार कह बैठा था 'योऽयमनिरुक्तः प्रणः स सुरूपकृत्नुः' कौ० १६।४।। जो यह अनिरुक्त (unmanifest) प्राण है वही सुरुपकृत्नु (सुन्दर रूपों का कर्ता) है। सुन्दर प्राण ही सुन्दर रूपों के कर्ता होंगे यही एक रहस्य सूत्र है जो भारतीय शिल्प और भारतीय शिल्पी को समझने में सहायक हो सकता है। 'श्रीर्वै वरुणः श० ।२।१।४।६। 'निश्चय से वरुण ही श्री है; श्रीर्वै स्वरः। श० ११।।४।२।१०।। स्वर श्री है और 'अथ यत्प्राणा अश्रयन्त तस्मादु

प्राण: श्रिय: । श० ६।१।१।४।। इसके पश्चात जब प्राण ठहर गए तब उन प्राणों को श्री कहा गया'। यह सब शिल्प दर्शन के सूत्र हैं। इन्हें समझना होगा। इतना निश्चित है कि जब तक प्रस्तराधार पर बनी मूर्ति में प्राण ठहरा नहीं दिए जाते तब तक मूर्तियां रुपवन्ती नहीं होतीं, श्रीयुक्ता नहीं होतीं उनमें स्वर नहीं जागते शिल्प शास्त्र के अधिष्ठाता वरुण देवता वहां निवास नहीं करते। और इस कारण जब भी किसी स्टेला क्रामरिश, किसी आनन्दकुमार स्वामी, किसी महापात्र और शिल्पहाट के किसी शिल्पी संन्यासी से शिल्प का मूल सूत्र पूछो वह धीरे से कह देगा 'बस प्राणतत्त्व'।



प्राणा: शिल्पानि। कौ० २५।१२,१३।।

* * *



राजनीतिक पर्यालोचन

डॉ० ब्रह्मा भारद्वाज

'श्रेय' और 'प्रेय' दोनों ही मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होते हैं। 'श्रेय' 'कल्याण' या 'हित' स्थायी होता है। श्रेय को अपनाने वाले व्यक्ति के मार्ग में समय-समय पर कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं, पर अन्त में उसे सफलता प्राप्त होती है, और सुख मिलता है। परन्तु 'प्रेय' का अन्त सदैव सुखकारी नहीं होता। विचाराधीन विषय के प्रसंग में हम कह सकते हैं कि राजनीतिक प्रेय सामयिक अथवा तत्कालीन है। यह एक ऐसा सुगम मार्ग है जिससे हम तथाकथित उत्कृष्ट संस्थाओं को अपनाकर, उन्नत देख सकते हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इससे हम यह कह सकें कि उसमें इन संस्थाओं को सुचारु रूप से चलाने की क्षमता भी है। अतः इसके परिणाम भयंकर हो सकते हैं। इसके विपरीत देश-काल के अनुरूप (भावी) सम्भावनाओं को ध्यान में रख कर जो कार्य किया जाता है उसके प्रारम्भ में कठिनाइयां और बाधाएं विकट रूप से सामने आती हैं। परन्तु इनकी विवेक-पूर्ण प्रगति राष्ट्र को सुदृढ़ और समुन्नत करती है।

राष्ट्रहित और अन्तर्राष्ट्रीय नीति

राज्य की नीतियों के क्षेत्र को हम सुविधा के लिए दो भागों में बांट सकते हैं—अन्तर्राष्ट्रीय और गृह्य। राष्ट्र अन्य राज्यों के साथ अपने आचरण को जिस नीति से अनुशासित करता है, वह अन्तर्राष्ट्रीय नीति कहलाती है। सफल नीति वही है जो राष्ट्र को आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से प्रगति की ओर ले जाए और साथ ही राष्ट्र की मान-मर्यादा, उसका गौरव और उसकी प्रादेशिक अखंडता की अक्षुण्णता बनाए रखे। इसके लिए यह आवश्यक है कि दूसरे देशों के साथ हमारे राष्ट्र के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण हों। 'राष्ट्रहित' साध्य है, और 'सुसम्बन्ध' साधन।

अच्छे सम्बन्ध इसीलिए रखे जाते हैं कि राष्ट्रहित का सम्पादन किया जा सके। 'तटस्थता' भी एक साधन है। हम अन्तर्राष्ट्रीय नीति में तटस्थ इसलिए रहते हैं कि दोनों गुटों से दूर रहकर दोनों से लाभ प्राप्त कर सकें। अतः राष्ट्रहित में सम्बन्धों को बदला जा सकता है, पर सम्बन्धों के लिए राष्ट्रहित की बलि श्रेय नहीं हो सकती। बहुधा ऐसा प्रतीत होता है कि हम राष्ट्रीय अपमान सहकर, या किसी कार्य के परिणाम को भली प्रकार जानते हुए भी दूसरे राज्य के प्रति मौन धारण कर लेते हैं। कभी-कभी ऐसा इसलिए होता है कि हम कोई गलत नीति अपना लेते हैं और जब वह गलती जनता के सामने आ जाती है, या तो अपनी गलती को गलती स्वीकार करने का साहस हममें नहीं होता, या इसको स्वीकार करने का प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ता है। कभी-कभी अन्य राज्यों के कार्यों की उपेक्षा केवल यह कह कर करदी जाती है कि इससे हमारे पारस्परिक सम्बन्धों पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। किन्तु उस समय हम यह भूल जाते हैं कि इसका परिणाम राष्ट्र का अहित है। अतः हम अपने अन्तर्विरोध को ढकने के लिए राष्ट्रहित की उपेक्षा कर जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयमानवता, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अप्रासंगिक हैं। इनका मूल्य अन्य सामान्य नारों से अधिक नहीं। हां, अपने वास्तविक उद्देश्यों के प्रति भ्रान्ति उत्पन्न करने के लिए इनका प्रयोग निस्संदेह होता है। ये नारे भी साधन ही हैं। कोई भी सफल नीति केवल इन पर आधारित नहीं की जा सकती। अतः सार रूप से हम कहते हैं कि साध्य और साधन का अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय नीति के लिए आवश्यक है। साध्य राष्ट्रहित है जिसमें आर्थिक समृद्धि और सैनिक सुरक्षा प्रमुख हैं। इस पर आधारित नीति स्थायी होती है और इस पर सरकार के सामयिक परिवर्तन का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

लोक-कल्याणकारी राज्य

गृह-नीति के क्षेत्र में भी कुछ विचार आवश्यक है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय नीति से ही राष्ट्र का सम्मान और स्थिति नहीं बनती। वस्तुतः राष्ट्र की प्रतिष्ठा उसकी शक्ति और समृद्धि से ही बनती है। निःशक्त राष्ट्र आधारहीन होता है, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी स्थिति कटी पतंग से अधिक नहीं होती। अतः शक्ति-सम्पन्नता

के लिए देश में सुविचारित नीतियों की आवश्यकता होती है। किन्तु नीतियों के निर्धारण मात्र से कार्य नहीं चलता। इन नीतियों का पालन भी दृढ़ता से होना चाहिए। वर्तमान राजनीतिक प्रसंग में हम सबसे पहले इस विषय पर विचार करेंगे कि राज्य का स्वरूप कैसा हो। राज्य शान्ति और सुरक्षा से सम्बन्धित पुलिस के सीमित कार्यों को करे, या समाज कल्याण से सम्बन्धित व्यापक कार्यों को। आज कल प्रायः यह सुनने को मिलता है कि अब राज्य का स्वरूप बदल गया है। अब वह 'पुलिस राज्य' नहीं रहा है, समाज कल्याणकारी राज्य हो गया है। इसलिए उसे समाज-कल्याण से सम्बन्धित सामाजिक कार्यों को अधिक से अधिक करना चाहिए इस कथन में असत्य का अंश तो कम है, पर भ्रांति अधिक है। और इसी भ्रान्ति के कारण, शान्ति-व्यवस्था और सैनिक सुरक्षा की उपेक्षा द्वारा उन्हें गौण कर दिया जाता है। पर ऐसा करते समय हम यह भूल जाते हैं कि शान्ति और सुरक्षा के अभाव में हम किसी प्रकार की समृद्धि का उपयोग नहीं कर सकते। इसके विपरीत हमारी समृद्धि ही हमारी चिन्ता का कारण और आपत्तियों का मूल बन जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्र की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपनी सुरक्षा कितनी दृढ़ता से कर सकता है। शक्ति के दो प्रयोग हैं: सुरक्षा और विजय। सैनिक शक्ति केवल इसलिए नहीं रखी जाती कि हमें दूसरे देशों पर आक्रमण कर उन्हें विजय करना है। इसकी आवश्यकता इस लिए भी होती है कि हमें अपनी सुरक्षा करनी है। अतः पहले तर्क पर आवश्यकता से अधिक महत्व देकर दूसरे की उपेक्षा कर देना राष्ट्र के हित में नहीं। इसके परिणाम हम भुगत चुके हैं, और अब भी परिस्थितियां बदली नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शक्ति का दुहरा महत्व होता है। पहला है रचनात्मक-अर्थात सहज प्रीति। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कौन सा देश आवश्यकता पड़ने पर अपने पड़ौसी देशों को उनकी सुरक्षा बनाए रखने में सहायता करता है। दूसरा है ध्वंसात्मक या भय-प्रीति। इसका अर्थ है कि कोई शत्रु देश हमारी अवहेलना इस भय से न करे कि हम उसका दमन भी सहज कर सकते हैं।

गृह-प्रशासन में भी शक्ति की आवश्यकता होती है। पुलिस का प्रयोग उपद्रवों को दबाने, शान्ति बनाए रखने, व्यक्ति की वैयक्तिक और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। पुलिस और सेना दोनों के संघटन और संचालन में राजनीतिक दलबंदी का हस्तक्षेप अवांछनीय है। सत्तारूढ़ दल को इनका प्रयोग

अपने स्वार्थ में नही करना चाहिए। बंगाल, केरल में जो कुछ हुआ या हो रहा है, वह सब इसी का दुष्परिणाम है।

वस्तुतः 'पुलिस राज्य' और 'समाज कल्याणकारी राज्य" भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इन दोनों में कोई अन्तर्विरोध भी नहीं है। एक पुलिस राज्य कल्याणकारी राज्य भी हो सकता है और इसी प्रकार कल्याणकारी राज्य एक पुलिस राज्य भी। यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो पुलिस राज्य पर ही कल्याणकारी राज्य स्थित रह सकता है। कल्याणकारी राज्य न्याय पर आधृत 'पुलिस राज्य' का ही विस्तार है।

प्रजातन्त्र

यूनानी विचारक अरस्तू ने प्रजातंत्र को सुशासन माना है और इसके विकृत रूप को भीड़तंत्र की संज्ञा दी है। भारत में आजकल प्रजातंत्र कहा जाता है परन्तु प्रजातंत्र के वास्तविक अर्थ और यथार्थ रूप को समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता और इसके अभाव में प्रजातन्त्र दर्शन या सुविचारित पद्धति न रहकर केवल एक नारा बन गया है। प्रजातंत्र, प्रजा का शासन है जिसमें जनता प्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधियों के माध्यम से जनहित में भाग लेती है। शासन के दो स्तर हैं—नीतिनिर्धारण और नीति को व्यवहार में लाना। सच्चे प्रजातन्त्र में जनता नीतिनिर्धारण में अधिक से अधिक भाग लेती है और विभिन्न सांविधानिक उपायों द्वारा उसे प्रभावित करती है, किन्तु इसके पश्चात् जब ये नीतियाँ व्यवहार में लाई जाती हैं, तो वह उसमें हस्तक्षेप नहीं करती। इस विषय में अधिकारियों को स्वतंत्रता रहती है। जनता और उसके प्रतिनिधियों का कर्त्तव्य इस समय केवल यह देखना रहता है कि नीतियों का पालन हो रहा है या नहीं, एवं उनका पालन उचित रीति से हो रहा है अथवा नहीं। भारतीय-प्रजातन्त्र में आज हम नीति-निर्धारण और नीति-पालन के अन्तर को भुला चुके हैं, और नीतियों को निर्धारण स्तर पर कम, प्रशासनिक स्तर पर अधिक प्रभावित करते हैं। अपने-अपने स्तर पर क्षमता के अनुसार राजनीतिक दल और गुट-नायक प्रशासन में हस्तक्षेप करते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रशासन कमजोर और प्रभावहीन, भ्रष्टाचार का वर्द्धन, असमाजिक तत्त्वों को प्रश्रय और अराजकता का प्रसार होने लगता है। अपराधियों और राजनीतिज्ञों के बढ़ते हुए गठबंधन राष्ट्र के लिए चिन्ता के विषय हैं।

सरकार और विधायन

इसी प्रसंग में यह कह देना रुचिकर होगा कि सत्तारूढ़ दल बहुधा सत्ता को सस्ते प्रचार का माध्यम बना लेते हैं। संसद में अनेक विधेयकों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य केवल जनमत जाग्रत करना, किसी वर्ग-विशेष की सहानुभूति प्राप्त करना या अन्य विरोधी दलों के समक्ष समस्या प्रस्तुत करना होता है। सरकार इन विधेयकों को कार्यान्वित करने में सक्रिय नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि ये विधियां संहिताओं में तो रहती हैं पर जनता, और कभी-कभी सरकार को भी इनका पता नहीं रहता। सरकार ने विधायन का कार्य बहुत बढ़ा लिया है और कभी-कभी ऐसा आभास होने लगता है कि उसका एकमात्र कार्य कानून बनाना है। प्रत्येक विषय पर और प्रत्येक समस्या से निपटने के लिए, विधेयक प्रस्तावित करने में सरकार बड़ी तत्परता दिखाती है। इसका परिणाम यह होता है कि कई बार एक ही विषय पर दुहरी विधि के उदाहरण सुगमता से मिल जाते हैं। १९६२ का डिफेंस आफ इण्डिया एक्ट और उसके अन्तर्गत बनाए गए नियम, इसका एक उदाहरण हैं। कुछ प्रेक्षकों का विचार है कि भारत में विधायन सबसे पहला कदम होता है, जब कि विदेशों में विधायन का प्रयोग तब होता है जब इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जाता है। इससे यह प्रतीत होता है कि सरकार शक्ति संचय में ही लगी हुई है, किन्तु इसका उचित प्रयोग या तो वह कर नहीं सकती, या उसे आता नहीं है। भारत में आजकल आवश्यकता इस बात की है कि सरकार केवल शक्ति-संचय से ही सन्तुष्ट न हो, उसका प्रयोग भी हो।

राष्ट्रीयकरण

राष्ट्र की शक्ति में वहां की आर्थिक समृद्धि का महत्त्वपूर्ण योग होता है। आज भारत में सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण पर बहुत बल दिया जा रहा है, और समाजवादी समाज की कल्पना को आदर्श समझा जा रहा है। सच्चा समाजवाद वहीं है जहाँ समाज के सभी व्यक्ति सुखी हों, समुचित हों, जहाँ सभी को अपने विकास की पूरी सुविधाएं हों। समाजवाद का एक प्रधान लक्षण यह है कि यहां उत्पत्ति के साधनों पर समाजिक स्वामित्व होता है। किन्तु क्या इस स्वामित्व से ही समाजवाद पूरा हो जा जाता है ? क्या इसमें सभी व्यक्ति सुखी और सम्पन्न हो जाते हैं और उनमें

आर्थिक समानता आ जाती है। हमने मिश्रित अर्थ व्यवस्था को अपनाया है, जिसका अर्थ है कि उत्पादन पर राजकीय स्वामित्व के साथ-साथ वैयक्तिक स्वामित्व भी होगा। इस समाजिक स्वामित्व का एक साधन राष्ट्रीयकरण है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि आर्थिक विषमताओं, आर्थिक केन्द्रीयकरण और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में सुधार के लिए राष्ट्रीयकरण रामबाण है। इससे सभी कुरीतियां समाप्त होती हैं और राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से ऊंचा उठता हैं। राष्ट्रीयकरण लाभ-प्रद हो सकता है और कुछ दशाओं में आवश्यक भी है। जिस क्षेत्र में वैयक्तिक क्षमता नहीं है, वहां सरकार प्रवेश कर सकती है। इसी प्रकार जिस क्षेत्र में वैयक्तिक व्य-वस्था सुचारू रूप से नहीं चल रही है, वहाँ भी सरकार का हस्तक्षेप बढ़ सकता है। पिछले दिनों की घटनाओं को देखने से पता चलता है कि राष्ट्रीयकरण के विषय में सरकार का उद्देश्य स्वच्छ नहीं था। जो व्यवसाय आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद चल रहे थे, सरकार ने उन्हीं को अपने हाथों में ले लिया। राष्ट्रीयकरण के प्रसंग में एक बात ध्यान देने की यह भी है कि क्या सरकार के पास राष्ट्रीयकृत उद्योगों को सफलता पूर्वक चलाने के साधन हैं ? अभी तक का अनुभव इसके विपरीत है। राष्ट्रीयकृत उद्योगों की कुशलता घट जाती है। उनमें लालफीताशाही घर कर जाती है और लाभ कम हो जाता है। यह अधिक अच्छा रहेगा कि सरकार राष्ट्रीयकरण को पहला कदम न बनाए। इससे पूर्व उसे अपना नियंत्रण दृढ़ कर लेना चाहिए, जिससे व्यवसाय में भ्रष्टाचार रुक सके, एवं श्रमिक और उपभोक्ता को भी न्याय मिल सके। यदि इस निगरानी से भी उसके दोष दूर न हों, तो अन्तिम रूप में ही राष्ट्रीय-करण का प्रयोग किया जाना चाहिए।

राजनीतिक नारे

भारतीय राजनीति में आज कुछ नारे बहुत सुनाई देते हैं जिसमें से कुछ हैं: भावात्मक एकता, समाजवाद, प्रगतिशीलता, साम्प्रदायिकता, छूआ-छूत, जातिवाद। इन्हें लाने या दूर करने के लिए इन पर जितना महत्व दिया जाता है, उतना ही उसका विपरीत प्रभाव दिखाई देता है। इन समस्याओं का केवल एक ही साधन है कि राष्ट्रीय स्तर पर इनकी नितान्त उपेक्षा कर दी जाय।

स्वदेशी एवं भारतीयकरण

स्वतंत्रता आन्दोलन के मध्य महात्मागांधी ने देश को 'स्वदेशी' का विचार

दिया, जिसका भाव था हम भारतवासी रहन सहन, विचार और क्रिया में स्वदेशी हों, देश में निर्मित वस्तुओं को अपनाएँ, अपनी सभ्यता-संस्कृति पर हमें गर्व हो। गांधी जी के निर्देशन पर जनता ने इसको व्यवहार में लाना भी प्रारम्भ कर दिया। खादी पहनना, कुटीर उद्योग, प्राथमिक शिक्षा की योजना इसके उदाहरण हैं। महात्मा गाँधी का यह विचार कितना उचित और समयानुकूल है, इस पर दो मत नहीं हो सकते। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेख कर दें कि कुछ व्यक्ति आजकल 'भारतीयकरण' की माँग कर रहे हैं। पर सरकार द्वारा इसकी निन्दा की जा रही है। महात्मा गाँधी के 'स्वदेशी' और आज के 'भारतीयकरण' में क्या अन्तर है कि एक को सराहा जाय और दूसरे को ठुकरा दिया जाय, यह समझ में नहीं आता। वस्तुतः जो व्यक्ति 'स्वदेशी' या 'भारतीय' होकर नहीं रह सकता, जो देश के प्रति निष्ठावान् नहीं, जो देश का हित नहीं चाहता उसे देश में रहने का कोई अधिकार नहीं है। देशद्रोहियों की प्रगतिवादी देशों में जो दशा होती है, वह सर्वविदित है; उस पर प्रकाश डालने की कोई आवश्वकता नहीं है।

स्वदेशी शिक्षा

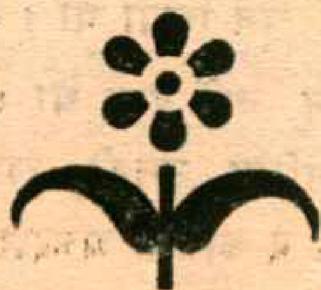
स्वदेशी के प्रकरण में ही एक और विषय पर भी कुछ विचार कर लें, वह है शिक्षा। शिक्षा का सम्बन्ध राजनीति, अर्थ, विज्ञान, अर्थात् जीवन के सभी क्षेत्रों से है। आज की शिक्षा समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं रही है। आज का शिक्षित व्यक्ति कहीं भी ठीक नहीं बैठता, शिक्षा के उपरान्त व्यवसाय के क्षेत्र में वह नितान्त अनभिज्ञ रहता है। शिक्षा उसे किसी भी व्यवसाय का प्रशिक्षण देकर योग्य नहीं बनाती। एक युवक केवल इसी आशा से परीक्षा पर परीक्षा उत्तीर्ण करता है कि कहीं इसके बाद ही नौकरी मिल जाए। शिक्षा दो कारणों से नितान्त उद्देश्यहीन हो गई है। पहला कारण है कि यह व्यक्ति को किसी व्यवसाय के योग्य नहीं बनाती। दूसरा कारण यह है कि हमारी शिक्षा और शिक्षा-पद्धति समाज से सम्बन्धित नहीं है। भारतीय स्नातक अमरीका, इंगलैण्ड आदि देशों और उनकी समस्याओं के बारे में जानता है, पर भारतीय समाज और उसकी समस्याओं के बारे में कुछ भी नहीं जानता। इसका कारण है कि हमारा पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तकें भारतीय तथ्यों और विषयों पर आधारित नहीं है या यह कहें कि हमारी शिक्षा-व्यवस्था स्वदेशी नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि वह

स्नातक जिसने विदेशी तथ्यों पर आधारित ज्ञान प्राप्त किया है, जब इस ज्ञान को व्यवहार में लाता है, तो उसे यह पता चलता है कि उसका ज्ञान केवल 'किताबी' है, उसका प्रयोग इस समय में नहीं हो सकता। 'अतः शिक्षा, पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तकों के स्वदेशीकरण की बहुत आवश्यकता है जिससे यहाँ के बुद्धिजीवी समाज और समाज की आवश्यकताओं के प्रसंग में सोच सकें।

शिक्षा-प्रणाली का एक दोष यह भी है कि यह व्यक्ति की क्षमता और समाज की आवश्यकता का ध्यान नहीं रखती। सभी व्यक्तियों को एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाती है। शिक्षा को सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप ढालना आवश्यक है। इस बात को हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि ग्राम के स्कूलों में खेती प्रधान शिक्षा हो। भाषा-गणित के साथ-साथ वह खेती की जुताई, सिंचाई, बीज फसलों की बीमारी, खाद, खेती के उपकरण आदि के विषय ज्ञान को प्राप्त करे। इस प्रकार किसान विद्यार्थी, उस ज्ञान को प्राप्त करेगा जिसकी उसे जीवन में आवश्यकता है। इस स्तर की शिक्षा सैद्धांतिक कम, व्यावहारिक अधिक होगी और भिन्न-भिन्न समुदायों में आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न विषयों पर बल होगा। इसका एक लाभ यह भी होगा कि उच्च स्तर पर शिक्षा-क्षेत्र में भीड़ कम होगी।

समाज व्यक्तियों से बनता है, अतः उसका विकास वैयक्तिक विकास से सम्बन्धित है। संस्थाएँ व्यक्ति बनाता है और वे देशकाल के अनुरूप होती हैं। अतः केवल संस्थाओं से किसी समाज का विकास नहीं हो सकता। यही कारण है कि एक संस्था एक स्थान पर सफल होती है, पर अन्य स्थान पर असफल। अतः संस्थाओं का अन्धानुकरण किसी समाज के लिए लाभप्रद नहीं हो सकता। हमें समाज और राष्ट्र के विकास और समृद्धि के लिए संस्थाओं पर कम, व्यक्ति पर अधिक महत्व देना चाहिए।





राष्ट्र के झरोखे से

१ जनवरी से ३१ मार्च तक



क्षितीशवेदालंकार

[हमारे आग्रह पर राष्ट्रीय रंग-मंच की घटनाओं पर विचार-समीक्षा लिखने का दायित्व श्री क्षितीश वेदालंकार ने स्वीकार किया है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं। आप राजधानी के सुप्रसिद्ध पत्रकार, लेखक और भारतीय साहित्यकार संघ दिल्ली एकक के अध्यक्ष हैं।]

सम्पादक

गतवर्ष की सबसे बड़ी उपलब्धि चन्द्र तल पर पृथ्वी पुत्र-मानव की विजय समझी गई थी परन्तु विश्व के स्तर से उतरकर जब हम राष्ट्र के झरोखे से देखना प्रारम्भ करते हैं तो कांग्रेस का विघटन भी उससे कम महत्वपूर्ण घटना नहीं कही जा सकती। पहली यदि पृथ्वी-पुत्र की अमित आकांक्षा की प्रतीक थी तो दूसरी क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय नेताओं के पतन की। कांग्रेस के इस विघटन को यद्यपि सैद्धान्तिक रूप देने का प्रयत्न किया गया किन्तु इसमें सिद्धान्त हीनता ही दृष्टिगोचर होती है। राजनैतिक महत्वाकांक्षा अपने आप में कोई बुराई नहीं है किन्तु व्यक्ति विशेष की आकांक्षाओं के लिए कांग्रेस जैसे विशाल संगठन को विशीर्णकर दिया जाय तो उससे राष्ट्र के अनिश्चित भविष्य की ही कल्पना की जा सकती है। १९७० का वर्ष आरम्भ होने से पहले कांग्रेस दो खेमों 'नई और पुरानी' में बंट चुकी थी। दोनों के अहमदाबाद और बम्बई में अलग-अलग अधिवेशन हुए। नई कांग्रेस ने जगजीवन राम को अपना अध्यक्ष चुन लिया था। ये राष्ट्रपति-पद के भी इच्छुक थे। उस समय कांग्रेस का विभाजन नहीं हुआ था। तथाकथित सिंडीकेट के नेता उनके नाम से सहमत नहीं थे। इसलिए उनकी राष्ट्रपति बनने की इच्छा कांग्रेस अध्यक्ष बनने में चरितार्थ हुई। अब वे कांग्रेस अध्यक्ष तथा केन्द्रीय खाद्य और कृषि

मंत्री भी हैं। स्व० नेहरु के सिवाय और किसी ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया था। टंडन जी के त्यागपत्र के पश्चात वे कांग्रेस के अध्यक्ष और प्रधानमन्त्री दोनों ही थे।

बैंक-राष्ट्रीयकरण

वर्ष के आरम्भ के पूर्व ही बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका था लेकिन १० फरवरी को उच्चतम न्यायालय ने उसे रद्द कर दिया। तब भारत सरकार ने १४ फरवरी को नया अध्यादेश जारी करके बैंकों का फिर से राष्ट्रीयकरण कर दिया और मार्च समाप्त होने से पूर्व संसद के दोनों सदनों में वह स्वीकृत होकर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के साथ लागू भी हो गया।

सुप्रीमकोर्ट ने सरकार का यह अधिकार तो स्वीकार किया कि उसे बैंकों के राष्ट्रीयकरण का अधिकार है परन्तु सरकार ने केवल २४ बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके भेदभाव की नीति बरती है। सुप्रीमकोर्ट के निर्णयानुसार उक्त १४ बैंकों को मुआवजे की बढ़ी हुई राशि दे दी गई लेकिन शेष बैंकों का राष्ट्रीयकरण न करके सरकार ने अपनी नीति के विरुद्ध विरोधियों को न्यायालय जाने का अवसर दे दिया है।

राष्ट्रपति का चुनाव

राष्ट्रपति के चुनाव के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में मामला चल रहा है। मुद्दा है कि कांग्रेसी उम्मीदवार संजीव रेड्डी के विरुद्ध प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति गिरि के समर्थको ने अश्लील पोस्टर निकाल कर बांटा था। निर्वाचन-नियमानुसार यह गर्हित कार्य है। यदि श्री गिरि का चुनाव रद्द हो गया तो केवल नई कांग्रेस ही नहीं देश की सम्पूर्ण राजनीति एक नया मोड़ ले सकती है।

सीमान्त गांधी की यात्रा :--

जनवरी से पूर्व अब्दुल गफ्फार खां भारत आए और ४ फरवरी को यहाँ से वापस चले गए। उनकी यात्रा की उपलब्धियों पर निष्पक्ष-विचार करने से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि सीमांत गांधी को अपने समर्थकों की सिरतोड़ कोशिश के बाद भी ८० लाख की जगह सिर्फ ३० लाख रुपए ही मिल पाए। शिकायतें आई हैं कि पैसा जोरजुल्म से लिया गया है पर केवल ३० लाख रुपए ही जमा हो सके। यह राशि

उन्हें किस लिए दी गई यह स्पष्ट नहीं हैं। सीमान्त गाँधी की पृथक प्रान्त की इच्छा लग भग पूरी होने वाली है। सीमा प्रान्त अलग बन जाने से वहाँ की असेम्बली प्रस्ताव उसी प्रकार पारितकर अपना नाम पख्तूनिस्तान रख सकती है जैसे मद्रास ने तमिलनाडु रखा। तोक्या, येरुपए भारत में खुदाई खिदमत गारों को दिए गए हैं? क्या यह संस्था केवल मुसलमानों की रहेगी? तब ऐसी स्थिति में क्या यह मुस्लिम-लीग जैसी नहीं होगी???

साम्प्रदायिक राजनीतिक दल :--

स्वतंत्र भारत में किसी सम्प्रदाय विशेष के नाम से राजनीतिक दलों की स्थापना गैर कानूनी है। मुस्लिमलीग, मजलिसेमशव्वरात, अकाली दल जैसे साम्प्रदायिक दलों को मान्यता देना और उन्हें साम्प्रदायिक आधार पर अपन उम्मीद वार खड़े करने देना भारत सरकार की अदूरदर्शिता ही नहीं सविधान का खुला उल्लघन भी है। यह कार्य सर्वथा असंगत और अशुभ सूचक है।

चण्डीगढ़ का हल :---

इस क्रम में चण्डीगढ़ का प्रश्न है। पंजाब में अकाली दल ने ही साम्प्रदायिक राजनीति का श्रीगणेश किया। अकाली पार्टी किस तरह एक-एक कदम आगे बढ़ाकर अपनी साम्प्रदायिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति में सक्रिय है, यह सर्वथा स्पष्ट है। मैसूर और महाराष्ट्र में महाजन आयोग की सिफारिशें लागू करने के अनिच्छुक गृहमंत्री श्री चाव्हाण ने शाह आयोग की सिफारिशें भी नहीं मानी। अकालियों के उपद्रव और अराजकता के सामने केन्द्रीय सरकार झुक गई और २९ जनवरी को चण्डीगढ़ पंजाब को दे दिया। परिणाम स्वरूप दोनों प्रान्तों का जनमानस विभाजित होगया और सांप्रदायिक तथा क्षेत्रिय हितों के आधार पर देश विखण्डन के अतर्क्य (illogical) दिशा का समर्थन होने लगा और हो सकता है कि श्रेय का अंक आपके हाथों में जाने तक मेघालय का निर्माण भी हो चुका होगा जो पूर्वांचल से शत्रु की युद्ध नीति के लिए एक बिन्दु होगा। गुरुनाम सिंह का केन्द्र सरकार की उपेक्षा करना इतना बड़ा गुनाह नहीं था जितना कि राज्य सभा में सन्त फतेह सिंह के उम्मीदवार का बिरोध। परिणाम स्वरूप गुरनाम सिंह को सत्ता से हटना पड़ा। देश की राजनीति प्रजातंत्री महंतों द्वारा किस प्रकार अधिनायकवाद की ओर झोंकी गई है इसका यह ज्वलंत प्रमाण है। नई कांग्रेस के अध्यक्ष जगजीवन राम और

केन्द्रीय धुरी इन्दरा गांधी ने इस स्थिति में अपने गुट्टीय स्वार्थ को जिस प्रकार सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है उसका दुष्परिणाम अवश्यम्भावी है।

पंजाब के वर्तमान मुख्य मन्त्री बादल सन्त जी के हुक्म के बन्दे है जिस प्रकार गुरु नाम सिंह थे। लेकिन परदे के पीछे सक्रिय अधिनायक संत फतह सिंह का साथ बादल बहुत दिनों तक नही निभा सकेगें।

उतर प्रदेश का नाटक

पंजाब के इस दृश्य से पूर्व उत्तर प्रदेश में एक शतरंजी नाटक हुआ। मुख्य मंत्री श्री गुप्त की सत्ता उलटने के अनेक प्रयत्न इंदिरा जी ने किए, रात-दिन वहीं के अनेक राजकीय दौरे किये और भी बहुत कुछ चालें चलीं परन्तु काफी दिनों तक गुप्ता मंत्रिमंडल खूब जोर शोर के साथ उठा रहा। इस नाटक में शतरंजी राजा रहे चौधरी साहब जिन्होंने घड़ी २ रंग बदलने में गिरगिट को भी मात कर दिया। नाट्य कला के ये सारे रंग केवल मुख्य मंत्री पद ही के कारण रहे और चौधरी जी इसमें फिलहाल सफल हो गए। नई कांग्रेस के चौधरी मन्त्रिमण्डल में शामिल होने के बाद, समाचार है कि राज्य सभा के उम्मीदवारों के चयन में भा० कां० द० में और नई कांग्रेस में समझौता नहीं हो पाया है तथा कई स्थानों पर दोनों अपने अपने उम्मीदवार खड़े कर रहे हैं।

बंगाल में पटक्षेप

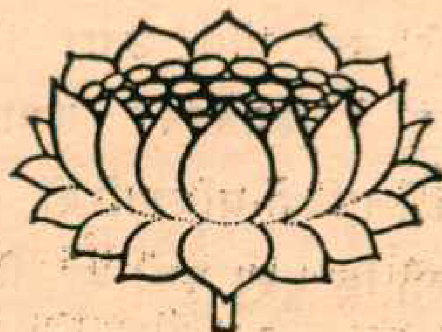
परन्तु असली पटक्षेप पश्चिमी बंगाल में हुआ है। संयुक्त मोर्चा अर्थात् अवसर वादियों के मोर्चे में मत भेद जन्म काल से चला आना स्वाभाविक है। साम्यवादियों ने सत्ता हथियाने के लिए जो नुकीले नाखूनों और दांतों पर खोल चढ़ा लिए थे सत्ता में आते ही सारे खोल उतार दिए। परिणामतः हिंसा का तांडव नृत्य खूब हुआ। श्री वसु ने गृहमंत्रालय संभालकर अपने आदमी पुलिस में भर्ती कर दिए, ईमानदार कर्मचारियों-अधिकारियों को निकाल बाहर किया। अराजकता बढ़ी और इतनी बढ़ी कि मुख्य मंत्री का दिल भी इससे दहल गया। स्वयं अपनी सरकार के विरुद्ध मुख्यमन्त्री अनशन कर बैठे। खेद की बात है कि केन्द्र में तो प्रधान मन्त्री ने उपप्रधानमंत्री महोदय को दूध में से मक्खी की तरह

निकाल कर बाहर फेंक दिया परन्तु वहां मुख्यमन्त्री उपमुख्य मन्त्री को सत्ता से बाहर नहीं निकाल सके, हारकर मुख्यमन्त्री श्री मुखर्जी इस बात पर उतर आए कि उप-मुख्य मन्त्री गृह मन्त्रालय को छोड़कर किसी और मन्त्रालय का कार्य भार ग्रहण कर लें पर श्री बसु इसके लिए भी तैयार नहीं हुए। जब अजय बाबू बिल्कुल ही निराश हो गए तब वे त्यागपत्र देने पर विवश हुए। केन्द्र सरकार के रोकने पर भी वे न रुक सके। उनके त्याग पत्र देते ही एक बार तो राज्यपाल महोदय की अदूरदर्शिता के कारण वहां सरकार बनने के आसार तो पैदा हो गए थे परन्तु विरोधी दलों की सतर्कता के कारण ऐसा न हो सका और अन्त में बंगाल में राष्ट्रपति शासन लागू हो गया। जनता को कुछ राहत की सांस मिल गई।

राष्ट्रपति शासन के पश्चात साम्यवादी अधिनायकों के कारनामों का विस्तृत वर्णन जब आज सामने आ रहा है तब देश के प्रजातंत्र का भविष्य सुरक्षित रहेगा या नहीं यह प्रश्न प्रत्येक नागरिक की जुबान पर है।

देश की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं और दुर्घटनाओं के मध्य राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से स्वामी श्रद्धानन्द की मूर्ति का दिल्ली में अनावरण एक ऐसी घटना है जिसमें स्वदेश की सुप्त चेतना के जागरण का चिह्न दिखलाई देता है। अन्यथा राजनीति वितडावाद के ऐसे कुतर्कों में फंस चुकी है कि किसी भी मनीषी को प्रजातंत्र में विश्वास बनाए रखने का साहस नहीं होगा। आज देश के समक्ष एक बहुत बड़ा संप्रश्न आ खड़ा हुआ है। लंगड़ा प्रजातत्र या कि देश का अस्तित्व ? ? ?





भारतीय सा० सं० की विचार गोष्ठी
२४ अगस्त १९६९

आचार्य बंकिम एक राष्ट्रीय मेधा

वृत्तक—देवानन्द बलौदी

जब कोई राष्ट्र अर्द्धविक्षिप्त हो जाता है, तब वह अपने मनीषियों को ही भूलना प्रारम्भ कर देता है। गत वर्ष जब दैनिक 'हिन्दुस्तान' के माध्यम से 'वंदे मातरम्' जैसे पुनीत राष्ट्रीय गीत के प्रणेता आचार्य वंङ्किम को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ तब प्रत्येक विचार शील व्यक्ति को ऐसा अनुभव होने लगा कि राजनीति की स्वार्थपरता विवेक की सीमा को ही नहीं लाँघ गई है, अपितु जो कुछ भी सत्य है, श्रेय है उसको विनष्ट करने पर कटिबद्ध है।

ऐसे समय में कम से कम देश के पठित वर्ग के समक्ष वस्तु-स्थिति को रखना भारतीय साहित्यकार संघ ने उचित समझा। २४ अगस्त १९६९ को आचार्य बङ्किम——एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व' शीर्षक से विचार गोष्ठी का आयोजन 'दिल्ली भाषा संस्थान' के निर्देशक डा० रवीन्द्र कुमार दास की अध्यक्षता में किया गया, और उसी दिन विट्ठल भाई पटेल भवन के प्रकोष्ठ में आयोजित द्वितीय उपवेशन में महर्षि बंङ्किम को भारत राज्य के राज्य-शिक्षा-मंत्री श्री भक्तदर्शन की अध्यक्षता में श्रद्धाञ्जलियां अर्पित की गयीं।

दयानंद एग्लो वैदिक कालिज, चित्रगुप्त रोड के संसद-कक्षमें आयोजित प्रथम उपवेशन में संयोजक पं० क्षितीश वेदालंकार ने आचार्य वङ्किम का जीवन परिचय देते हुए कहा कि बंङ्किम बङ्गाल के उन महापुरुषों में से थे जो ब्रिटिश शासन की राजकीय सेवा में रहते हुए भी निर्भय हो कर देश का सांस्कृतिक युद्ध लड़ रहे थे। इनकी तेजस्विता का प्रमाण तो तभी लग गया था जब एक गांव को जला देने वाले ब्रिटिश अधिकारी को जिला अधिकारी की हैसियत से इन्होंने कठोर दण्ड दिलवाया था।

'विचार गोष्ठी' का उद्घाटन करते हुए डा० प्रभाकर माचवे ने आश्चर्य प्रकट किया कि किस प्रकार प्रशासन ने बंकिम के लेखों के एक हिंदी संकलन को दिल्ली में प्रवेश से निषिद्ध घोषित कर दिया है। बङ्किम की तरह अन्य राष्ट्रीय मेधाओं से भी भारतीय साहित्यकार संघ देश को परिचित कराए, ऐसी अभिलाषा उन्होंने प्रकट की।

एस० एल० घोष महोदय ने बङ्किम के राष्ट्रीय स्वरूप पर पत्र पढ़ते हुए बताया कि किस प्रकार व्यंग्य प्रधान और विचार प्रधान दोनों शैलियों का अनुसरण करते हुए यह मनस्वी पश्चिमी विचारों के प्रभाव को कम करने में अनवरत संलग्न था। उन्होंने 'धर्म तत्त्व' नामक लेख में अत्यन्त गम्भीरता से ईसाइयों द्वारा प्रतिपादित 'धर्म तत्त्वों' का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए 'हिन्दू-धर्म तत्त्वों' की वरेण्यता को बनाए रखने का प्रयास किया।

मोहन लाल श्रीवास्तव, मुख्य संयोजक भारतीय साहित्यकार संघ ने बङ्किम के दर्शनिक पक्ष को उपस्थित करते हुए संकेत किया कि बङ्किम ने स्थान-स्थान पर भारतीय मनीषियों की वर्चस्विता को प्रदर्शित कर देश में चिन्तनोद्भूत राष्ट्र-भाव जगाना चाहते थे।

'प्राच्य-विद्या-विद् आचार्य बङ्किम' विषय पर अपना लेख पढ़ते हुए अश्विनी कुमार वर्मा-संयोजक दर्शन परिषद भा० सा० संघ ने बताया किस प्रकार १७वीं शताब्दी से यूरोपीय राष्ट्र अपनी (ग्रीक संस्कृति पर आधारित) सामान्य संस्कृति को भारतीय संस्कृति के समक्ष दुर्बल पड़ता देख क्षुब्ध हो उठे थे। और किस प्रकार अपने को आर्य कहलाने के इच्छुक राष्ट्रों (जर्मनी, पोलैण्ड, स्पेन फ्रांसादि) ने बाद में आर्य बाहर से भारत में गए इस सिद्धांत को प्रतिपादित करना प्रारंभ किया। उन्नीसवी शती के प्रारंभ से ही भारत को पराजित चिन्तन वाला राष्ट्र सिद्ध करने के लिए ब्रिटिश शासकों की शिक्षा नीति का आकलन करते हुए बङ्किम ने देश में सांस्कृतिक युद्ध छेड़ना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझा।

सायंकालीन उपवेशन में अध्यक्ष पद से बोलते हुए राज्य शिक्षा मंत्री श्री भक्तदर्शन ने कहा कि भारतीय साहित्यकार संघ विभिन्न प्रांतों की राष्ट्रीय मेधाओं से देश को परिचित कराने का एक सराहनीय कार्य कर रहा है। इतने अल्प साधनों से भी कार्य करते हुए जितनी परिष्कृत रुचि का यह परिचय दे रहा है वह एक आश्चर्य की ही बात है। उनके अनुसार बङ्किम को प्रांतीय लेखक बताना उनके साथ अन्याय करना है।



"गोष्ठी के अध्यक्ष राज्य-शिक्षा-मंत्री श्री भक्त दर्शन"

प्रातःकालीन उपवेशन के अध्यक्ष और सम्मानित अतिथि डा० रवीन्द्र कुमार दासने अपने लिखित व्यक्तव्य में बताया कि किस प्रकार 'वंदे मातरम्' के गीत से राष्ट्रीय चेतना का प्रचार हुआ।

वयोवृद्ध संसद सदस्य श्री चपलाकांत भट्टाचार्य ने बङ्किम के कुछ उपन्यासों के 'संवादो' और 'गीतों' का उद्धरण देते हुए कहा कि राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को १९वीं शताब्दी में बङ्किम जैसे राष्ट्रीय मनीषी स्वीकार कर चुके थे।

मन्मथ नाथ गुप्त ने बङ्किम को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए एक बात कही कि आज की साम्प्रदायिकता का बहुत कुछ कारण बङ्किम जैसे व्यक्तियों का हिन्दुत्व वादी लेखन है। इससे भिन्न सभा को सम्बोधित करते हुए अश्विनी कुमार वर्मा, सह संयोजक बंकिम ने कहा कि बङ्किम पर ऐसा आरोप राजनीति पूर्ण है।

अंत में एक बात जो खटकने वाली है वह यह है कि अपने को राष्ट्रवादी

कहने वाले एक पत्र के संपादक ने कार्यक्रम में आद्यन्त उपस्थित रहने पर भी उस मास के किसी अङ्क में भी कार्यक्रम का विवरण देना उचित नहीं समझा। यहीं तक ही नहीं, उन्होंने श्री अश्विनी कुमार वर्मा से 'बङ्गला विशेषाङ्क' के लिए बङ्किम पर लेख लिखवाकर उसे राजनीतिक कारणोंवश प्रकाशित करना भी उचित नहीं समझा। राजनीति ने किस प्रकार संपादन की नैतिकता को भ्रष्ट किया है इसका यह ज्वलंत उदाहरण है।





वेदों में आर्य, दास और दस्यु

पं० रामगोपाल जी शास्त्री वैद्य (दिल्ली)

(भारतीय सा०सं० की चाणक्य परिषद् में इस विषय की भूमिका पर) पं० जी का निबन्ध पाठ पहले भी हो चुका है

सम्पादक

आर्य

१. ऋग्वेद में आर्य शब्द दो प्रकार से प्रयुक्त है, एक तो अपत्यार्थ में जैसे अर्यस्य अपत्यं आर्यः और दूसरा ऋगति प्रापणयोः धातु से ण्यत् प्रत्यय लगाकर आर्य-पद सिद्ध किया गया है, इसका अर्थ है—अरणीयः प्रापणीयः गमनीयः इति आर्यः। वेद में आर्य शब्द जब शत्रु के विशेषण में आएगा-तो इसका अर्थ होगा—अभिगमनीयः अर्थात् जिस शत्रु पर आक्रमण करना चाहिये। ऋग्वेद ६, २५, २, में आर्य का श्रेष्ठ अर्थ किया गया है और ६, २२, १०, तथा ६, ६०, ६, में आर्य शब्द कृदन्त के रूप में आया है और शत्रु के विशेषण में प्रयुक्त हुआ है। यहां इसका अर्थ है महान् या बलवान्। इन तीनों मन्त्रों का द्रष्टा भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि हैं।

दास

दास शब्द वेद में दो धातुओ से बना है। एक "दसुउपक्षये" और दूसरा "दासृ दाने"। जहां उपक्षये धातु है वहां इसका अर्थ२. होगा विनाशकारी और जहां दासृदाने धातु है वहां भृत्य के अर्थ का बोध होता है। दास शब्द वेद में

---

१. ऋग्वेद १, ५१,८

२. ऋग्वेद ७, ८६, ७

और "अन्तोदात्त" के रुप में व्यवहृत है। जहां आद्युदात्त है वहां उसका अर्थ है[3] जिसे मारा जाये और जहां अन्तोदात्त है वहाँ इसका अर्थ है —नाश करने वाला।[4]

आर्य-दास-दस्यु

५. वेद में आर्य शब्द पुरुष (मनुष्य) तथा जड़ पदार्थों के विशेषण में आ या है। ऋग्वेद ५, ३४, ६, में इन्द्र के विशेषण १,१०३,३ में उत्तम गुणयुक्त व्यक्ति या श्रेष्ठ मनुष्य के लिये ९,६३,५ में सोम के विशेषण में १०, ६५,११ व्रतों के विशेषण रुप में, और ७, ३३, ७ में प्रजा के विशेषण में आया है।

दास शब्द भी इसी प्रकार मनुष्यों तथा जड़ पदार्थों के बिशेषण के रुप में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद्र १०, ८६, १९ अनार्य अर्थ में और ७, १९,२ में मेघ-विशेषण के रुप में आया है।

दस्यु-शब्द भी मनुष्यों के लिये तथा जड़ पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद ७, ५, ६ में निकृष्ट कर्म करने वाले पुरुष के लिये यह प्रयुक्त हुआ है. ऋग्वेद १, ५९, ६ में शम्बर नामक मेघ के विशेषण में आया है।

आदिवासी

पाश्चात्य मान्यता के लेखकों ने 'शम्बर' 'चुमुरि' 'धुनि' 'पिप्रु' 'वर्चिन' तथा इलीविश शब्दों के आधार से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये मनुष्य आदि-वासियों के प्रमुख सरदार थे। परन्तु ये सब नाम वेद में मेघो के हैं। शम्बर (ऋग्वेद १, ५९, ६) चुमुरि धुनि, प्रिपु (ऋ० ६, १८, ८) वर्चिन् (ऋ० ७, ९९, ५) और इलीविश (ऋ० १, ३३, १२) दर्शनीय हैं:

चपटी नाक वाले आदिवासी

पाश्चात्य मान्यता के लेखकों ने ऋग्वेद के ५, २९, १० मन्त्र के आधार से अनासः शब्द से चपटी नाक वाला अर्थ किया है। परन्तु यहां भी मेघों का ही प्रकरण है। यहां अनास का अर्थ होगा-शब्द न करने वाला (मूक) मेघ।

---

३. ऋग्वेद १०,३८,३
४. ऋग्वेद ५, ३०, ९ तथा २, १२४
५. ऋग्वेद १, ५१, ८

काली त्वचा वाले आदिवासी

पाश्चात्य मान्यता के लेखकों ने ऋ० १, १०१; १, १३०, ८; २, २०, ७; ४,१६, १३; ६, ४७, २१; तथा ७, ५, ३; इन मन्त्रों से सिद्ध करने का यत्न किया है कि भारत के आदिवासी कृष्ण वर्ण के थे परन्तु यहां भी मनुष्यों का नहीं अपितु कृष्ण वर्ण मेघ तथा अन्धकारमयी रात्रि का प्रकरण है।

आदिवासियों के पुरों (नगरों) का विध्वंस

इसी प्रकार इन विद्वानों ने ऋ० १, ५१, ५; १, ५३, ८ ६, २०; १०; १,५१.११;१ १०३,३; १. ५४. ६; २. १६. ६; ४. २६. ३; ७. १६. ५; ३. १२. ६; ५. ३२. १०; तथा २, १४, ६; मन्त्रों के आधार पर सिद्ध करना चाहा है कि आदिवासियों के पुर (नगर थे) जिनका आर्य विध्वंसन् करते थे। उनका यह ज्ञान निराधार है। यहां भी विध्वसन्-प्रकरण में मनुष्यों का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्युत मेघों की जो तूफान के कारण घटाएं बन जाती हैं, उन्हीं को पुर (नगर) कहा गया है। मैक्डानल ने अपनी पुस्तक वैदिक माइथोलोजी (देवशास्त्र) में स्वयं लिखा है कि विद्युत् और तूफान से दानवों के पुर बन जाते हैं परन्तु अपनी दूसरी रचना वैदिक इन्डेक्स६ (वैदिक कोष) में अपने ही विरुद्ध लिखा है कि ये आदिवासियों के पुर अर्थात् नगर थे। विद्वानों को इस अन्तर्विरोध का ध्यान रखकर अनुसधान की ओर चलना चाहिये।

आदिवासियों का धर्म

विदेशी लेखकों तथा उनका अन्धानुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों ने लिखा है कि आदिवासी लिंग पूजक थे। यह उन्होंने ऋ० ७, २१, ५, तथा १०, ९९, ३, इन दो मन्त्रों में "शिश्नदेवा:" पद को देखकरके सिद्ध किया है कि आदि

---

६. क) मैंकडानल-वैदिक माइथोलोजी (देवशास्त्र) पृष्ठ १४४
"विद्युत तूफान की गाथात्मक कल्पना में मेघ भी बहुधा वायु में स्थित दानवों के पुर बन जाते हैं। उनकी संख्या ९० या १०० बताई गई है।
ख) इसी पृष्ठ पर इन्द्र प्रकरण में (देव शास्त्र) उन्हें (इन्द्र को) पुर भिद् तथा साथ ही जल का प्रेमी कहागया है (१४४)
७. वैदिक इन्डेक्स (वैदिक कोश) "पुर" शब्द

वासी शिश्न अर्थात् लिंग के पूजक थे परन्तु इन मन्त्रों में कहीं भी आदिवासियों का संबंध नहीं। ऋ० ७,२१,५; १०,९९, ३, से सिद्ध है कि-शिश्नदेव का अर्थ लिंग पूजक नहीं प्रत्युत व्यभिचारी है और इन मन्त्रों के प्रकरण से भी व्यभिचारी अर्थ ही सिद्ध होता है। विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्व वेद के आन्तरिक स्वरूप को जानने वाले यास्काचार्य ने शिश्नदेवा का अर्थ अब्रह्मचर्याः (निरुक्तः ४, १९) किया है। इसका अर्थ व्यभिचारी है। जो भी पुरुष शिश्न (लिंग) क्रीडारत हैं वे ही शिश्नदेव हैं। यह शब्द किसी विशेष जाति के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है।

आर्यो का आदिवासियों से युद्ध

८वैदिक इन्डेक्स में आर्य शब्द पर मैक्डानल और कीथ ने लिखा है कि दासों का आर्यों से और आर्यो का आर्यों से परस्पर युद्धों का संकेत मिलता है। यह अशुद्ध और अप्रामाणिक अर्थ है। ऋ० १, ३२, ११ आदि मंत्रों को देखकर उन्होंने आर्यों और आदिवासियों का जो युद्ध सिद्ध किया है वह भ्रम है। इस मंत्र में भी अन्तरिक्ष में वृत्र अर्थात् मेघ और इन्द्र अर्थात् विद्युत का जो संघर्ष है वह प्राकृतिक संघर्ष है। यहां पर मनुष्यों के युद्ध का कहीं भी वर्णन नहीं है। ऋ० १, १, ३२ का सारा सूक्त पढ़ने से विदित हो जाता है कि सम्पूर्ण सूक्त वृत्र और इन्द्र का अलंकारिक वर्णन है। स्वयं यास्काचार्य ने इस मत्र मे आए दास का अर्थ मेघ और इन्द्र का अर्थ विद्युत किया है।८

आर्यों का आर्यों से युद्ध

उसी वैदिक इन्डेक्स में आर्य पद् के अन्तर्गत लिखा है कि आर्यों का आर्यों के साथ युद्ध होता था। यह मिथ्या है। हमने आरम्भ में ही जहां आर्य पद की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की है वहीं लिख दिया है कि जहां जहां आर्य शब्द शत्रु के विशेषण में आएगा वहां आर्य का अर्थ बलवान् तथा महान् है।

---

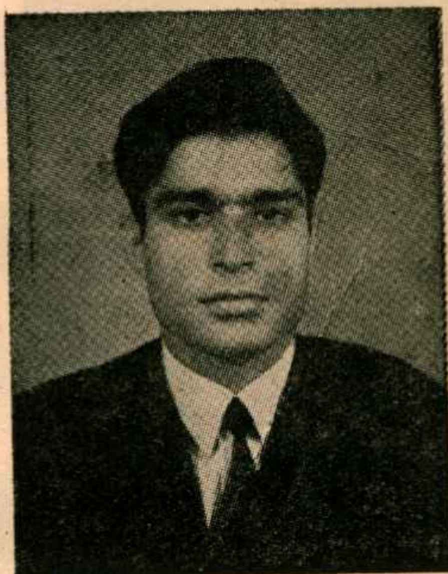
८ Vedic Mythology (देव शास्त्र) पृष्ठ १४१ में इन्द्र प्रकरण में मैक्डानल ने स्वयं लिखा है कि ये प्राकृतिक युद्ध हैं। उसके लिए उसके वाक्य दर्शनीय हैं।

"इन्द्र वर्तमान काल में वृत्र का वध करते हैं या ऐसा करने के लिए उनका आह्वान किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि उनका (इन्द्र वृत्र का युद्ध) अनवरत रूप से नवीन होता चला जाता है। यह प्राकृतिक दृश्य के सतत नवीन भावका गाथात्मक प्रति रूप है।"

९. निरुक्त २,१६

—: परिचय :—





श्री गजानन्द एडवोकेट

संरक्षक-भारतीय साहित्यकार संघ दिल्ली एवं इसकी विधि परिषद् के अध्यक्ष, सदस्य बारकौंसिल दिल्ली—१९६१-६८, मंत्री बारकौंसिल दिल्ली—१९६८ से दिल्ली विश्वविद्यालय कोर्ट, लैंडरिफार्म समिति नेशनल आर्बीट्रेशन बोर्ड के सदस्य।

श्री सतीशकुमार भाटिया एडवोकेट

संयोजक 'विधि-परिषद्' भारतीय साहित्यकार संघ। इस परिषद् का उद्देश्य है वर्तमान विधि संहिताओं की प्रकृति और उनके सामाजिक औचित्य पर विचार-विश्लेषण। यह परिषद् चाणक्य परिषद् के अन्तर्गत कार्य करेगी, इसके निर्देशक बैरिस्टर उमाशंकर त्रिवेदी और श्री सुशीलकुमार जोशी हैं।



श्री सुन्दरदास
भारतीय साहित्यकार संघ की वीर बंदा वैरागी समिति के संयोजक और दिल्ली कार्य समिति के सदस्य



श्री देवा नन्द बलौदी
पर्वतांचलीय लेखकों के सम्मेलन के लिए भारतीय साहित्यकार संघ द्वारा नियुक्त संयोजक तथा संघ की त्रैमासिक पत्रिका 'श्रेय' के कार्यालय सचिव ।



पुनश्च

उल्लेखनीय साहित्यिक अभिनन्दन



महामहिम उपराष्ट्रपतिगुरुदत्त जी को ग्रन्थ भेंट कर रहे हैं।

१६ जनवरी सन् १९६० की सायंकाल एक साहित्यिक समारोह में भारत के उपराष्ट्रपति डा० गोपाल स्वरूप पाठक ने हिन्दी उपन्यास लेखक श्री गुरुदत्त (वैद्य) को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया। श्री गुरुदत्त द्वारा संचालित-शाश्वत संस्कृति परिषद् की मुख पत्रिका 'शाश्वत-वाणी' के सम्पादक श्री अशोक कौशिक ने इस ग्रन्थ का संपादन किया है। अशोक जी का सद्-प्रयास स्तुत्य है। इस अवसर पर भारतीय साहित्यकार संघ की ओर से श्री मोहन लाल श्रीवास्तव ने गुरुदत्त जी को सम्मानार्थ ताम्रपत्र (अंकित "साहित्य विभूति विशेषण") भेंट किया।



साहित्यकार के दायित्व पर गोष्ठी



१५ मार्च १९७० को मेरठ में भारतीय साहित्यकार संघ की गोष्ठी का चित्र। दाएँ से सर्व श्री राजपाल, विनोद जी, मोहनलाल श्रीवास्तव, डा० रामकर्ण सिंह उपकुलपति (मेरठ विश्वविद्यालय), वैद्य गुरुदत्त और रघुवीर शरण मित्र । गोष्ठी में "साहित्यकार का दायित्व" विषय पर विचार प्रस्तुत करने वालों में डा० रामप्रकाश अग्रवाल, वासुदेव शर्मा, मुरारि राजीव, डा० रामेश्वरदयाल और कालीचरण पौराणिक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इस गोष्ठी का उद्घाटन-डा० रामकर्ण सिंह ने किया और इसकी अध्यक्षता डा० रामदत्त भारद्वाज ने की ।

हिन्द इलैक्ट्रिक स्टोर्स, दिल्ली
की शुभ कामना

ग्लोब प्रिंटर्स स्टोर

३८१३, चरखे वालान; दिल्ली-६

विक्रेता :

स्टैक्टर्म प्रिंटिंग इंक

ऑफसैट व टीन प्रिंटिंग मैटिरियल व कैमिकल्स

फ्लाइंग रानी

हैवी ड्यूटी

साईकिल ट्यूब

सोल एजेंट :

पीतांबरलाल मोहनलाल एण्ड कं०

४७४, एक्सप्लेनेड रोड, दिल्ली-६

फोन : २७७६४६

बी० के० इण्डस्ट्रीज

एम०-१४ आनन्द पर्वत एस्टेट

गली नम्बर २

नई रोहतक रोड, नई दिल्ली

हर प्रकार की गरारियो के निर्माता (GEARS)

कान-बाम

कानों के रोगों की अचूक औषधि

यह दवा प्रशंसा योग्य है। मेरी पुत्री (आयु १७ वर्ष) के कानों में ७ वर्ष से बहरापन था। तथा खुजली से भी परेशान थी। कान-बाम के प्रयोग से उसके कान नीरोग हो गए हैं। कान के रोगी इनसे अवश्य सलाह लें।

प्रमाण पत्र देने वाले :

सरदार शार्दूल सिंह मकान नं० ८२२
मुहल्ला गोरखपुर, जबलपुर (म० प्र०)

पत्र-व्यवहार का पता :

प्रो० कान-बाम ५३५२ चमेली निवास
लडडू घाटी पहाड़ गंज,
नई दिल्ली-५५

मिलने का समय : ५ बजे से ७ बजे तक सायंकाल

चौधरी लखीराम वर्मा नरायणा दिल्ली ने श्रेय पत्रिका के लिए १०१) रु० का दान दिया है तथा इसके लिए इतनी ही राशि प्रत्येक अंक के लिए देने का संकल्प किया है। इस आत्मीय सहयोग के लिए हम उनके आभारी हैं। श्री वर्मा जी १९४७-५० में दिल्ली बाह्य क्षेत्र में हिन्दू-रक्षा-समिति और हिन्दू-सहायता-समिति के अगुआ सदस्य रहे हैं।



भारतीय साहित्यकार संघ के मुख्य संरक्षक श्री गुरुदत्त वैद्य उपन्यासकार ने श्रेय पत्रिका के लिए प्रति अंक ३०) रु० सहायता देने का सकल्प किया है। पत्रिका परिवार इसके लिए आभार प्रदर्शित करता है।

स्वामित्व और प्रकाशन संबंधी घोषणा

१. प्रकाशन स्थान	नई दिल्ली ७/२०८ रमेशनगर
२. अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक	राजपाल
राष्ट्रीयता	हिन्दू (भारतीय)
पता	७/२०८ रमेशनगर नई दिल्ली
४. प्रकाशक	राजपाल
रा[illegible]	हिन्दू (भारतीय)
पता	७/२०८ रमेशनगर-नई दिल्ली
५. सम्पादक	डा० रामदत्त भारद्वाज, मोहन लाल श्रीवास्तव
पता	७/२०८ रमेशनगर-नई दिल्ली
६. स्वामित्व	भारतीय साहित्यकार संघ पंजीकरण संख्या-एस० २५६३

मैं, राजपाल यह घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी पूरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

राजपाल : मुद्रक तथा प्रकाशक

संपादन-समिति	:	सर्व श्री डा० बुद्धप्रकाश, डा० जगदीशभारद्वाज, डा० रामेश्वरदयालु, डा० ब्रह्माभारद्वाज, पं क्षितीश वेदालंकार, सतीशदत्तात्रेय, अश्विनीकुमार वर्मा, वासुदेव शर्मा, योगेशचन्द्र चतुर्वेदी
संरक्षक:	:	सर्वश्री गुरुदत्त, डा० लोकेशचन्द्र, मुरारीराजीव गजानन्द एडवोकेट, डा० रामप्रकाश अग्रवाल
मुद्रक-प्रकाशक	:	राजपाल शास्त्री 'जयेश —केन्द्रीय कोषाध्यक्ष तथा कार्यालय प्रमुख
सचिव:	:	देवानन्द बलोदी, महेन्द्र द्विवेदी, गंगाशरण तृषित